UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182497

UNIVERSAL
LIBRARY

काव्य और कल्पना

रामखेलावन पाण्डेय

प्रकाशक
श्रीअजन्ता प्रेस लिमिटेड

प्रथम संस्करण

मूल्य ५)

मुद्रक

श्रीमणिशंकर लाल

श्रीअजन्ता प्रेस लिमिटेड, पटना ४

"वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि"

अग्रज-तुल्य

पं० छविनाथ पाण्डेय

को

कृतज्ञता-निदवेन

इन निबंधों के लिखे जाने में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में जिनसे प्रेरणा मिली है उनमें श्री सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' का स्मरण सर्वप्रथम हो आता है, जिनके सम्पादन-काल में प्रकाशित 'विशाल भारत' के कई निबंध इस संग्रह में हैं।

स्नेह और सौजन्य के प्रतीक डा० विश्वनाथ प्रसाद, एम० ए०, पी-एच० डी० (लंदन) के स्नेह और प्रेरणा का मूल्य शब्दों के माध्यम से आँकने की क्षमता का अभाव ही अपने आप में पा रहा हूँ अतः मौनावलम्बन ही सम्बल है।

साहित्य-तपस्वी श्री शिवपूजन सहाय को विस्मरण करना शक्य नहीं जिन्होंने मेरे चिर-संगी आलस्य पर विजय पाई। श्री प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त' और श्री नवलकिशोर गौड़ ('बिजली' के तत्कालीन सम्पादक-द्वय) के कारण ही गद्य लिखने की प्रेरणा जगी अतः उन्हें इस अवसर पर स्मरण करना अपना कर्त्तव्य मान रहा हूँ। ऐसे अवसर पर मुझे अपने एक सहकर्मी का स्मरण हो आता है जो जन्मजात कलाकार थे। उन्होंने बलात् एक निबंध को 'विशाल-भारत' में भेज दिया था, जिसके प्रकाशित होने पर अपने-आप पर आस्था जमी। दुर्भाग्यवश उनके नाम का स्मरण नहीं रहा और न रहा उन्हें स्मरण करने का साधन ही। भाई नलिनजी (प्रो० नलिनविलोचन शर्मा) को स्मरण करने का मोह नहीं छूटता; कारण, उनके गुरु-गंभीर तकाजों ने निबन्ध लिखवाने में जो सफलता पाई, वह उनके अनुरूप ही है।

जी चाहता है, श्री जयनाथ मिश्र (संचालक, श्रीअजन्ता प्रेस लिमिटेड) का आभार स्वीकार कर छुट्टी पा लूँ, किन्तु संचालक से छुट्टी पाकर भी शालीनता की मूर्त्ति श्री जयनाथ मिश्र से उऋण होना संभव नहीं और यदि संभव होता भी तो व्यक्तिगत रूप से उऋण होना मैं चाहता भी नहीं। मणिशंकरजी (मैनेजर, श्रीअजन्ता प्रेस लिमिटेड) का यदि अथक परिश्रम साथ नहीं देता तो यह संग्रह कितने दिनों तक प्रकाश से वञ्चित होकर प्रेस के बेलनों से पिसता रहता, इसकी कल्पना असम्भव नहीं होकर भी सहज नहीं।

ऐसे तो बहुतों का ऋण चुकाना चाहता हूँ; किन्तु यह भी जानता हूँ कि उनका ऋण चक्रवृद्धि व्याज की गति से बढ़ता ही जाता है, ऐसे व्यक्तियों में श्रीमती बेलारानी पाण्डेय का स्थान अन्यतम है : और भी हैं, जिनका मूक आभार स्वीकार कर लेना ही उपयुक्त होगा।

और, जिन्हें स्मरण नहीं कर सका हूँ, उनकी प्रेरणा की अक्षमता नहीं, बल्कि मेरी स्मरण-शक्ति का दोष है जिसपर मुझे कभी अधिक भरोसा नहीं रहा।

और, यह तालिका कभी पूर्ण हो सकेगी क्या ?

अनुक्रमणिका

काव्य और कल्पना	१
कविता और उसका स्वरूप	२३
आधुनिक हिन्दी कविता	३६
गीति-काव्य की परम्परा	४७
काव्य में आत्माभिव्यक्ति	६०
वर्तमान हिन्दी काव्य की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ	७१
वर्णन-विधान की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ	८७
काव्य में अस्पष्टता	१०६
कवि और प्रकृति-चित्रण	११५
कलाकार की आलोचनात्मक प्रतिभा	१२९
हिन्दी कविता के विकास की इंगित दिशा	१४०

काव्य और कल्पना

कवि शेली ने कविता को कल्पना की अभिव्यक्ति (expression of imagination) कहा है। काव्य को रसात्मक वाक्य † अथवा रमणीयार्थ-प्रतिपादक शब्द ‡ माननेवाले साहित्यशास्त्री कल्पना के विषय में मूक हैं। उन्होंने प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास को काव्य का कारण स्वीकार किया है।* उनके अनुसार प्रतिभा एक विशेष प्रकार का संस्कार है। काव्य-शक्ति जन्मजात है, ऐसा सभी आचार्य नहीं स्वीकार करते। दण्डी ने 'काव्यादर्श' में स्पष्ट रूप से लिखा है कि काव्य-निर्माण का प्रबल कारण पूर्वजन्मार्जित प्रतिभा जिसको नहीं है, वह भी श्रुत से अर्थात् व्युत्पत्तिविधायक शास्त्र के श्रवण-मनन से तथा यत्न से अर्थात् अभ्यास से सरस्वती का कृपा-पात्र हो सकता है।A

संस्कार-रूप में प्राप्त कवित्व-बीज और सहजा प्रतिभा का एक स्थल पर संगम होता है, यहाँ तक पाश्चात्य एवं भारतीय मतों में अधिक अन्तर नहीं। स्पष्ट रूप से उल्लेख न होने पर भी प्रतिभा के अन्तर्गत कल्पना का समाहार हो जाता है। कारण, नवोन्मेषशालिनी अथवा 'अपूर्व वस्तु के निर्माण में समर्थ, प्रज्ञा ही प्रतिभा B मानी गई है।

---

† विश्वनाथ—वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।

‡ पण्डितराज जगन्नाथ—रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।

* शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥—मम्मट (काव्यप्रकाश)

A न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना—गुणानुबन्धिप्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्॥ (काव्यादर्श)

B प्रज्ञा नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता। अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा (लोचन)

कवि वर्ड्सवर्थ ‡ ने कविता को सबल अनुभूति के सहज प्रवाह की अपेक्षाकृत शान्तावस्था में चर्वणा का फल स्वीकार कर कल्पना के लिए स्थान रख लिया है। कारण, भावों की चर्वणा के लिए उस मानसिक अवस्था में पहुँचने की अपेक्षा है, जिसमें संवेदनशील रागात्मक आवेश प्राप्त हुआ था। रागात्मक आवेश की तीव्रता प्रत्यक्ष करने के लिए उदात्त कल्पना की आवश्यकता होगी। चिम्बर्स ने संगीतमय शब्दों में कल्पना-जन्य और राग-प्रसूत विचारों को प्रकट करने की कला को कविता माना है।*

काव्य में कल्पना की अपेक्षा और अनिवार्यता के संबंध में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में अधिकांश साहित्य-शास्त्री सहमत हैं। पाश्चात्य मतों का स्रोत अरस्तू (Aristotle) है और उसी के मत विभिन्न रूपों में विभिन्न व्याख्याओं के साथ उपस्थित किये जाते हैं। ठीक उसी प्रकार, रस-सम्प्रदाय की सारी व्याख्याओं एवं मतों का मूल उद्गम भरत का नाट्यशास्त्र है। यूनानी परम्परा का प्रतिपालन करते हुए अरस्तू ने कला को प्रकृति की अनुकृति कहा है, यद्यपि उसकी व्याख्याओं से स्पष्ट है कि वह इस अनुकृतिवाद को पूर्णतया स्वीकार नहीं करता। प्लेटो ने काव्य को प्रकृति की अनुकृति मानकर मानवता के लिए अनुपयोगी सिद्ध किया है। अरस्तू ने अनुकृतिवाद की अर्थ-सीमा विस्तृत की और उसे अपनी व्याख्या से पुष्ट किया। नाटकों को आधार मानकर साहित्य और काव्य की व्याख्या होती रही, अतः उन मतों में इनके संबंध के विचार आ गये। सामाजिक की दृष्टि से भट्ट लोलट का जो आरोपवाद है, वही नट के दृष्टिकोण से अनुकृतिवाद। यदि काव्य अथवा कला को केवल अनुकृति स्वीकार कर लिया जाय तो कल्पना के लिए स्थान नहीं रह जाता। अरस्तू के अनुकृतिवाद पर विचार करते समय एबरक्राम्बी ने लिखा है कि हमलोग जिसे 'टेकनीक' (Technique) कहते हैं, अरस्तू ने उसे ही अनुकृति कहा है। काव्यगत अनुकृति, जैसा अरस्तू ने अपने सिद्धांत-विवेचन में सर्वत्र प्रयोग किया है, काव्य के उद्गम अथवा काव्य एवं यथार्थ वस्तुओं और घटनाओं

---

‡ Spontaneous overflow of powerful feelings..... recollected in tranquility.

* Poetry is the art of expressing in melodious words the thoughts which are the creations of feeling and imagination.

के संबंध की व्याख्या नहीं करती * । कविता कल्पना द्वारा रुचिर मनोवेगों के लिए रमणीय क्षेत्र प्रस्तुत करती है, ऐसा रस्किन ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। अरस्तू के बाद के विचारकों ने कविता के लिए कल्पना की अनिवार्यता स्वीकार की। कवियों में, और विशेष कर पिछले खेवे के कवियों में, इसका अधिक आग्रह दीख पड़ा। शेक्सपीयर ने लिखा—

† The Lunatic, the lover and the poet
Are of imagination all compact.

'कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु' द्वारा कालिदास ने प्रेमी के इसी पागलपन—अर्थात् कल्पना-प्रवणता—की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। कवि वर्ड्स्वर्थ ने काव्य के उपादान रूप में सामान्य जीवन एवं प्रकृति का सामान्य रूप ग्रहण किया, यहाँ तक कि सिद्धांत-रूप में काव्य-भाषा को भाषा के प्राकृतिक रूप से अविभिन्न मानकर वह चला है। उसने भी लिखा है—"कवि और साधारण मनुष्य में इतना ही अंतर है कि वाह्य उत्तेजना के अभाव मे भी विचार और अनुभूति की तीव्रता उसमें (कवि में) रहती है और इस प्रकार उत्पन्न विचारों तथा अनुभूतियों की सबल अभिव्यक्ति करने में वह सफल है।" ‡ कोलरिज ने कल्पना का महत्त्वपूर्ण स्थान स्वीकार किया है। कालिदास ने कल्पनाजन्य भ्रम का वर्णन शाकुंतल में किया है। चित्र-लिखित शकुंतला में वास्तविक शकुंतला का भ्रम स्वयं चित्रकार दुष्यंत को हो गया, अतः शकुंतला के मुखकमल-मधुपानाभिलाषी चित्र-लिखित भ्रमर को देखकर वह कहता है—

"अयि भोः कुसुमलताप्रियातिथे! किमत्र परिपतनखेदमनुभवसि?
एषा कुसुमनिषण्णा तृषिताऽपि सती भवन्तमनुरक्ता।
प्रतिपालयति मधुकरी न खलु मधु त्वां विना पिबति॥"

["ओ पुष्पलता के प्यारे अतिथि! यहाँ उड़कर बैठने का कष्ट क्यों अनुभव करते हो? इस कुसुम पर बैठी मधुकरी तुम पर अनुरक्त होने के कारण, प्यासी होने पर भी तुम्हारी राह देख रही है, तुम्हारे बिना मधुपान नहीं करती।"]

---

* Lascelles Abercrombie : Principles of Literary Criticism—Page 88

† पागल, प्रेमी और कवि की कल्पनाएँ एक-सी रहती हैं।

‡ Preface to the Lyrical Ballads (1880)

राजा के चित्त-विकार—उन्माद—का कारण चित्रगत और वास्तविक शकुंतला का रूप-सादृश्य नहीं, बल्कि चित्र के उद्दीपन से पूर्वानुभूति का जागरण और इस प्रकार कल्पना का आवेश है। चित्र में यदि वास्तविकता का हम आरोप करें तो भी यह मानना पड़ेगा कि रूप-सादृश्य की वास्तविकता उसमें नहीं आ सकती। अनेक लोग इस विभ्रम के मूल में राजा की कला-चातुरी देखते हैं। दुष्यंत की चित्रकला-चातुरी के दर्शन मिश्रकेशी के भ्रम में होते हैं। कारण, शकुंतला अथवा शकुंतला के चित्र द्वारा वह उस राग-भूमि और भाव-भूमि में नहीं पहुँच सकती। यद्यपि मेनका के नाते शकुंतला के साथ उसका भावात्मक संबंध होने से राजा का उसके प्रति प्रेम देखकर भ्रम करना स्वाभाविक ही है। दोनों रूपों में कल्पना का सूत्र स्पष्ट दीख पड़ता है।

हिन्दी-काव्य के छायावादी युग में कल्पना-तत्त्व पर कवियों का अधिक मोह दीख पड़ा। कल्पना के स्वरूपनिर्णय के समय आधुनिक काव्य और कल्पना के इस संबंध की विवेचना अपेक्षित होगी, यहाँ केवल उनके दृष्टिकोण का विश्लेषण आवश्यक है। महादेवी वर्मा ने लिखा है—

"बाहर के वैषम्य और संघर्ष से थकित मेरे जीवन को जिन क्षणों में विश्राम मिलता है, उन्हीं को कलात्मक कलेवर में स्थिर कर मैं समय-समय पर उनके पास पहुँचती ही रही हूँ जिनके निकट उनका कुछ मूल्य है।"*

यहाँ वर्ड्सवर्थ की-सी शान्ति (Tranquility) तो है, मगर रागात्मक प्रवाह की चर्चा नहीं, यद्यपि संवेदनशीलता का आग्रह (उनके पास तक पहुँचती ही रही हूँ, में) है। संवेदनशीलता एवं विश्राम के क्षणों में कल्पना की अन्तर्भूत ध्वनि है। श्रीमती वर्मा पाठक की कल्पना की अपेक्षा स्वीकार करती हुई जैसे कहती हैं—'जिनके निकट उनका कुछ मूल्य है।' वाह्य उत्तेजना के अभाव में अनुभूति का आवेश कल्पना का ही फल है।

कल्पना में है कसकती वेदना
अश्रु में जीता, सिसकता गान है;—'पंत'

पंत ने वियोगी को पहला कवि माना है। सिसकते गान के मूल में अश्रु हैं और उन आँसुओं को जन्म देनेवाली वेदना काल्पनिक नहीं, वस्तुतः कल्पना के आवेश के कारण है। इस प्रकार के काव्य के मूल में कल्पना द्वारा

---

* 'आधुनिक कवि' (भूमिका)—पृ० २५

आविष्ट वेदना है। कल्पना की अतिशयता ही 'बच्चन' में सपना बनकर आती है—

'स्वप्नों ने ही मुझको लूटा,
स्वप्नों का, हा, मोह न छूटा,
मेरे नीड़-नयन में आओ, कर लो, प्रेयसि, रैन-बसेरा।

—'निशा-निमंत्रण' से

कल्पना को 'व्योम-कुंजों की परी' स्वीकार करनेवाले कवियों के प्रति विद्रोह की भावना जगी अत्यधिक वस्तुवादी मोह के कारण। छायायुगीन काव्य-साहित्य में कल्पना का प्राचुर्य देख आज का वस्तुवादी कवि कल्पना के तिरस्कार का संकल्प लेकर चला। किन्तु ऐसा वह कर कहाँ सका? और 'दिनकर' को लिखना पड़ा—

व्योम-कुंजों की परी, अयि कल्पने,
भूमि को निज स्वर्ग पर ललचा नहीं,
उड़ न सकते हम तुम्हारे स्वप्न तक
है शक्ति तो फिर आ बसा अलका यहीं।

कल्पना की इस महत्त्व-चर्चा के साथ ही प्रश्न उठता है—कल्पना क्या है? इसका स्वरूप क्या है? और इसने किस रूप में काव्य-जगत को प्रभावित किया है? कवि-कल्पना के स्वरूप के संबंध में शेक्सपीयर ने लिखा है—

"कवि की दृष्टि उल्लास से भरकर पृथ्वी से स्वर्ग और स्वर्ग से पृथ्वी तक घूमती है और जैसे-जैसे कल्पना स्फुरित होती है वैसे-वैसे कवि की लेखनी जिनका अस्तित्व तक नहीं वैसे अलक्ष्यों को लक्ष्य कर उन्हें नाम-रूप देती है *। अतः विचारणीय यह है कि कल्पना अनस्तित्व का अस्तित्व है क्या?

---

* The poet's eye in fine frenzy rolling
Doth glance from heaven fo earth,
From earth to heaven.
And as imagination bodies forth
The form of things unknown, the poet's pen
Turns them to shape, and gives to airy nothing
A local habitation, and a name.

—Shakespear

ज्ञान का मूलाधार निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान (Sensation) है। परिस्थिति-विशेष में वस्तु का ज्ञान सहजवृत्ति के द्वारा होता है। अन्य मानसिक क्रियाओं के सहयोग द्वारा मानव-मन में अतः क्षोभ होता है और रागात्मिका वृत्ति जगती है। प्रथम प्रत्यक्ष-ज्ञान और बाद के उसी प्रकार के ज्ञान में अन्तर हो जाता है। चाँदनी रात हमारे मन में एक विशिष्ट भावना—परिस्थिति और 'मूड' के अनुकूल—जागरित करती है। चान्द्रमसी ज्योत्स्ना का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान चक्षुओं के द्वारा होता है और राग-द्वेषात्मक अनुभूति मानसिक क्रियाओं के कारण। ऐसी खुली-धुली चाँदनी में कोई प्रिय व्यक्ति साथ हो, तो ऐसी अवस्था में वैयक्तिक आकांक्षा अथवा वासना के साथ ज्योत्स्ना की भावात्मक-रागात्मक अनुभूति का साहचर्य होगा। चाँदनी के अतः दो रूप होंगे—आलम्बनात्मक और उद्दीपनोचित। आलम्बनात्मक रूप में भी सहजवृत्ति के सामञ्जस्य के कारण ही उसका महत्त्व है, अन्यथा नहीं। कलात्मक—सौन्दर्यात्मक कहना अधिक उपयुक्त होगा—अनुभूति से शून्य व्यक्ति में ज्योत्स्नाजन्य कोई भावात्मक उद्रेक नहीं होगा। साहचर्य के कारण, उद्दीपनात्मक अनुभूति के कारण, चाँदनी की अनुभूति प्रिय व्यक्ति की उपस्थिति में मानस चक्षुओं के सामने आ उपस्थित होगी; अथवा चाँदनी की रुपहली रातें वियोग के समय प्रिय की याद दिला देंगी। प्रकृति की संवेदना का यही रहस्य है। सूरदास की गोपियाँ कहती हैं—"बिन गुपाल बैरिन भईं कुञ्जैं, तब वे लता लगति अति सीतल अब भईं विषम ज्वाल की पुञ्जैं।" इसके मूल में भी वही भावना है। वे ही लताएँ जो कृष्ण के साहचर्य से आनन्द की जड़ थीं, विरह में कृष्ण के साहचर्य-अभाव का स्मरण दिला अभिनव व्यथा की सृष्टि करती हैं। इस प्रकार, ज्ञान एवं अनुभूति का आधार प्रत्यक्ष निर्विकल्पक ज्ञान है, जो स्वाभाविक मानसिक क्रिया का फल है। कल्पना इसीका स्थान ग्रहण करती है और इस रूप में विचार करने के क्षणों में प्रत्यक्ष न रहनेवाली वस्तु के चिन्तन द्वारा रूप-विधान को कल्पना कहते हैं। संज्ञा के प्रयोग द्वारा भावोन्मेष कल्पना-प्रसूत है। मानवीय बुद्धि-परम्परा ने वस्तु का गुणगत नामकरण किया है और नाम के उच्चारण के साथ ही उसका मानसिक चित्र सामने आता है। फलतः वैसी मानसिक प्रतिक्रिया होती है जैसी वस्तु के प्रत्यक्ष रहने पर होती; किन्तु जिसके मानस में नाम एवं वस्तु का सामञ्जस्य स्थापित नहीं हुआ है, उसमें तद्विषयक भाव-विधान की संभावना नहीं। संभव है, अनभिज्ञता के कारण आश्चर्य, विस्मय, जिज्ञासा आदि भाव जगें। प्रिया की आकृति प्रथम-प्रथम मानसिक क्रिया को जागरित करने में समर्थ

होती है। कारण, चाक्षुष मूर्त्त-विधान द्वारा रूप का प्रत्यक्ष निर्विकल्पक ज्ञान होता है। क्रमशः क्षीण प्रकाश में उसकी वाणी अथवा उसके पद-चाप द्वारा भी उस प्रकार की अनुभूति होगी और बाद में चलकर केवल नामोच्चारण सुनकर विशिष्ट भावना जगेगी, जो किसी और नाम के कारण नहीं जगती अथवा उसी नाम के कारण साहचर्यजनक कल्पना के अभाव में नहीं जगती। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष-ज्ञान मानस पर इस प्रकार की लीक छोड़ जाते हैं, जो अभ्यास के कारण पहचानने में सहायक होते हैं।

पूर्वपरिचित वस्तुओं से रूप-वैषम्य अथवा पार्थक्य देखकर सहसा लोगों को ध्यान होता है कि वह कलाकार अथवा कल्पक की निजी सृष्टि है, जिसका कोई आधार नहीं। इस विषय की मीमांसा आगे की जायगी, यहाँ इतना निर्देश करना ही अलम् होगा कि कल्पना का उद्गम अप्रत्यक्ष वस्तुओं के चिन्तन द्वारा रूप-विधान में है। किन्तु इसकी मात्रा और इसके स्वरूप में अन्तर है। कल्पना के द्वारा अप्रत्यक्ष वस्तुओं का रूप मानस में सहसा मूर्त्त रूप ग्रहण करता है, वस्तु का मूर्त्त रूप रहता है, किन्तु प्रत्यक्ष नहीं, यही अंतर है। इस अर्थ में कविता मानस-प्रतिमा-निरूपण करती है। कल्पना का, अतः, कई अर्थों में प्रयोग आलोचना एवं मनोविज्ञान के क्षेत्र में होता रहा है।

निर्विकल्पक प्रत्यक्ष-ज्ञान को मूर्त्त रूप देने के काल-क्रम से इसके दो स्पष्ट स्वरूप हो जाते हैं। दृश्यगत प्रतिमा को मानस-चक्षुओं के सामने लाना—इस स्पष्ट मूर्त्त-विधान का अर्थ साधारण रूप में स्मरण-शक्ति समझना चाहिए। ऐसी अवस्था में यह स्वीकार कर लिया जाता है कि वस्तु के प्रत्यक्ष दर्शन के साथ ही कलाकार उसका मूर्त्त-स्वरूप उपस्थित करने लगता है। काल-क्रम से प्रत्यक्षीकरण की शीघ्रता के कारण ऐसे मूर्त्त-विधान अधिक प्रभावशाली हो पाते हैं। साधारणतया यह विश्वास कर लिया जाता है कि ऐसे मूर्त्त-विधान में सजीवता और मूर्त्तिमत्ता अधिक होती है। किन्तु, ऐसे चित्र अस्पष्ट पर, स्थूल रेखाओं में सीमित, अव्यापक एवं वस्तु की प्रतिकृति स्वरूप होते हैं, एवं इच्छापूर्वक इनमें परिवर्त्तन नहीं किया जा सकता। प्रतिकृति में काव्यत्व का विधान नहीं, बल्कि वस्तु अथवा भावना के नवनिर्माण में कल्पना और काव्य का सामञ्जस्य है, अतः ऐसी अवस्था में इस प्रकार के उत्तर-मूर्त्त-विधान (After-images) में काव्यत्व से अधिक कृत्रिमता का रंग है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि कलाकार कूची अथवा कलम लेकर बैठ

जाता है और दृश्य-परिवर्त्तन के अनुसार अपनी कूची फेरता अथवा कलम चलाता है। काव्य में इस प्रकार के चित्रों का अभाव नहीं। अधिक वस्तुवादी अथवा प्रकृति का तथ्यगत चित्र उतारनेवाली कविता में ऐसे चित्रों का मोह अधिक दीख पड़ता है—

पपीहों की वह पीन पुकार
निर्झरों का भारी झरझर;
झींगुरों की झीनी झनकार
घनों की गुरु गम्भीर घहर;
विन्दुओं की छनती छनकार
दादुरों के वे दुहरे स्वर। —'पंत'

अनुप्रासगत स्वरमैत्रीजन्य संगीत-लालित्य और माधुर्य से इसे विच्छिन्न कर देखें तो उत्तर-मूर्त्त-विधान का सफल चित्र इन पंक्तियों में मिलेगा। चित्र की प्रत्येक रेखा स्पष्ट और स्थूल है, किन्तु चित्रों का वास्तविक समन्वित चित्र स्पष्ट रूप में उपस्थित नहीं होता। प्रत्येक चित्र अलग और स्वतंत्र रूप में दीख पड़ता है। चित्रकार की दृष्टि दृश्य के विशेष अंगों पर न होकर समाहित रूप से सम्पूर्ण चित्र पर पड़ती है, अन्यथा चित्र विविध रंगों अथवा आकृतियों का संघटन तो उपस्थित करता है, किन्तु मेल नहीं। पंत की इन पंक्तियों में चाक्षुष बिम्बों के समाहित चित्र के स्थान में श्राव्य बिम्बों की प्रधानता है जिसकी चर्चा यथास्थान आगे की जायगी। चित्रों में प्रभविष्णुता कलाकार के रागात्मक आवेश के सामंजस्य से आती है, अन्यथा कुछ चित्र उपस्थित कर ही उसे संतोष ग्रहण करना पड़ता है।

काव्यगत भावुकता के अर्थ में भी 'कल्पना' शब्द का प्रयोग होता है। विविध परिस्थितियों में अपने-आप को रखकर कवि उनके अनुरूप भाव उपस्थित करता है। कवि और लेखक में इस भावुकता के प्रति अधिक मोह देखा जाता है। पर्याप्त मात्रा में कल्पना एवं सहानुभूति का अभाव कहकर आलोचक को खिल्ली उड़ाने से भी वह नहीं चूकता। भावुकता का संबंध संवेदनशीलता से है। कवि को पात्र को परिस्थितियों में अपने-आपको रखकर उनकी रागात्मक प्रवृत्तियों के उद्घाटन में कुछ सीमा तक कल्पना की आवश्यकता होती है; किन्तु केवल वह कल्पना ही नहीं। कल्पना का क्षेत्र रागात्मक आवेश की सीमा का स्पर्शमात्र करता है—उसे उत्तेजना, तीव्रता, अथवा आवेश देता है; किन्तु भावुकता-पूर्ण वर्णन के लिए कल्पना आवश्यक नहीं।

"पुर तें निकसी रघुबीर-बधू धरि धीर दये मग में डग द्वै।
झलकीं भरि भाल कनी जल की पुट सूखि गये मधुराधर द्वै॥
फिर पूछति है चलनोऽब कितो पिय पर्नकुटी करिहौ कित ह्वै।
तिय की लखि आतुरता पिय की अँखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै॥

"जल को गये लक्खन हैं लरिका, परिखौ पिय! छाँह घरीक ह्वै ठाढ़े।
पोंछि पसेउ बयारि करौं, अरु पाँय पखारिहौं भूभुरि डाढ़े॥
तुलसी रघुबीर प्रिया स्रम जानि कै बैठि बिलंब लौ कंटक काढ़े।
जानकी नाह को नेह लख्यौ पुलको तन, बारि बिलोचन बाढ़े॥"

तुलसी की इन पंक्तियों में भावुकता प्रचुर मात्रा में है; किन्तु कल्पना का जो वास्तविक रूप है, उसके दर्शन नहीं होते, बल्कि यह स्वाभाविक वर्णन है। इस स्वाभाविकतापूर्ण वर्णन के लिए कवि को अनुभूति का अवलम्ब लेना पड़ा है; किन्तु इसमें उत्तर-मूर्त्तविधान नहीं। कारण, स्पष्टता की सीमा घिरती नहीं। चाक्षुष-मूर्त्त-विधान का कुछ आवेश यहाँ अवश्य है।

अलंकार-विधान के लिए भी कल्पना की सदा अपेक्षा नहीं। रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि के लिए कल्पना सदा अपेक्षित नहीं होती। रूढ़िगत और परम्पराभुक्त उपमान ला खड़े करने में कवि का कल्पना-चमत्कार नहीं। रूपकातिशयोक्ति के लिए भी इसे स्वीकार किया जा सकता है—यद्यपि नवीन रूप-विधान के उत्कर्ष में ही कल्पना का उदात्त स्वरूप अभिव्यक्त होता है।

'जल रहा तुम्हारा रूप-दीप
भर रहा विश्व-तन की बाती
जल रहा तुम्हारा रूप-दीप।'

—'नेपाली' (विश्वसुन्दरी)

रूप-दीप के रूपकत्व में कवि-परम्परा का आग्रह है। रूप के प्रकाश के मूल में स्वीकृत परम्परा है, अन्यथा और कोई हेतु नहीं। इन अलंकारों का कार्य काव्य में जान फूँकना नहीं, बल्कि प्रभाव भरना मात्र है। काव्य के लिए इनकी अनिवार्यता शास्त्रकारों ने स्वीकृत भी नहीं की है। यह अनुमान किया जा सकता है कि अलंकारों के नव-उपमान-विधान में कल्पना की अपेक्षा होगी। बहुत-कम ऐसे रूपक-उपमादि मिलेंगे जिनका तर्क-सम्मत आधार खड़ा किया जा सके। चन्द्रमा को नख में देखनेवालों में कल्पना की भावना कम और बुद्धिविभ्रम का आधिक्य अवश्य है। अलंकार-विधान द्वारा वस्तुतः रागात्मिका वृत्ति की उत्तेजना के अभाव को पूर्ण करने का प्रयास

कवि करता है। कारण, इसे ही वह संवेदनशीलता जाग्रत करने का माध्यम मान बैठता है।

वैज्ञानिक अन्वेषण करनेवाली बुद्धि भी कल्पनात्मक क्षमता रखती है; किन्तु इसके संबंध में इतना स्मरण रखना होगा कि मूल में कल्पना का सूक्ष्म आधार लेकर चलनेवाले वैज्ञानिक की चेतना प्रयोगात्मक है। अतिकल्पना-क्रांत 'रोमांस'वादी कहानियों अथवा जासूसी कथाओं में भी आविष्कार की भावना रहती है। पागलों में भी स्वच्छंद कल्पना का अभाव नहीं। वैज्ञानिक कल्पना को वस्तुओं एवं तज्जन्य अनुभूतियों में नियमबद्धता स्वीकार कर चलना पड़ता है, अन्यथा कोई नवीन आविष्कार नहीं हो सकता। कल्पना शिल्प-कला की अनुयायिनी बनकर ही यहाँ रह सकती है।

इस साधारण वर्णन के साथ कल्पना की प्रकृत भूमि पर हम आते हैं, जिसे रचनात्मक कल्पना कहा जाता है। इसके द्वारा कलाकार वस्तुओं के वैधर्म्य को दूर कर उनमें संतुलन उपस्थित करता है एवं इस प्रकार संतुलित भावना या वस्तु प्रकृत वस्तुओं अथवा भावनाओं से विभिन्न और स्वतन्त्र रूप-प्रकृतिवाली दीख पड़ती है। वह प्रतिदिन दीख पड़नेवाली वस्तु को लेता है और अन्य किसी वस्तु का उसके साथ तादात्म्य स्थापित कर देता है एवं उसी प्रकार भावना का अन्य भावना के साथ। मनुष्य की इन्द्रिय-सम्बन्धी शक्ति सीमित और संकुचित है, किन्तु मानसिक शक्ति इसकी अपेक्षा अपरिमित और विस्तृत। कल्पना पूर्व अनुभवों एवं निर्विकल्पक प्रत्यक्ष-ज्ञान का आधार छोड़ नहीं सकती, अतः कल्पना निराधार एवं 'व्योम-कुंजों की परी' है, ऐसा समझना भ्रमात्मक है। पूर्व-निर्विकल्पक प्रत्यक्ष-ज्ञान के अभाव में, न तो जन्मांध इन्द्रधनुष के रंगों की कल्पना कर सकता है और न जन्म का बहरा संगीत के सौन्दर्य की। यह बात दूसरी है कि कुछ सुनी-सुनाई बातों के आधार पर इन्द्रधनुषों के रंगों का उल्लेख वह करे। पूर्व अनुभवों को सुरक्षित रखना और आवश्यकता पड़ने पर उन्हें प्रकट करना स्मरणशक्ति का कार्य और कल्पना का आधार है। साहचर्य के नियमों के कारण मानसगत बिम्बों में परिवर्त्तन, परिवर्द्धन और संस्कार संभव हैं तथा वस्तुविशेष इनके कारण नवीन रूप ग्रहण कर लेता है। जिनका चिर-साहचर्य संबंध है, उनके संबंध-ज्ञान का त्याग भी कल्पना की सीमा में आता है। हिम और शीतलता, अग्नि तथा ज्वाला का चिर-साहचर्य संबंध है। कवि की कल्पना जब 'शीतल दाह' की चर्चा करती है, वह हिम की शीतलता एवं अग्नि के

दाह को स्थानांतरित करती है *। कारयित्री अथवा रचनात्मक कल्पना का यही आधार है और काव्य में इसका ही महत्त्व-पूर्ण स्थान है—

दृगजल की सित मसि है अक्षय
मसि-प्याली झरते तारक द्वय;
पल - पल के उड़ते पृष्ठों पर
लिखती हूँ, कुछ लिख जाती हूँ।—'महादेवी'

कवि के मानस-चक्षुओं के सामने दो चित्र हैं; एक ओर महादेवी देखती हैं कि कागज के पन्नों पर मनुष्य अपने भाव-चेतन, अर्द्ध-चेतन अथवा अचेतन रूप में लिखता है। अचेतन रूप में लिखने का अर्थ है कि अचेतन मानस मानसिक ग्रन्थियों एवं अनेक अज्ञात कर्मों का विधायक है और उसका प्रभाव विचारधारा पर अवश्य पड़ता है। काव्य-कला चेतन क्रिया है अथवा अचेतन मानसिक क्रिया का फल, मैं इस प्रश्न पर यहाँ उतरना नहीं चाहता, इसकी विवेचना किसी स्वतंत्र निबंध का विषय बनेगी। दूसरा चित्र उसके सामने है—'आँखें किसी की सुधि में भर झर रही हैं और उसाँसें उन आँसुओं की सूचना देती हैं।' इनके साथ पृष्ठों के उड़ने का छोटा-सा और चित्र है। अपने स्थान पर सभी चित्र स्वाभाविक हैं। कवि इन सभी चित्रों का संश्लिष्ट रूप यहाँ सामने उपस्थित करता है। 'मसि' और 'दगजल' का संश्लेष है, किन्तु उनके विश्लेष के कारण 'सित' का विधान है। 'मसि-प्याली' और 'तारक-द्वय' के रूपकत्व को एकसूत्रता देनेवाला 'झरना' है, जो 'मसि-प्याली' के सम्बन्ध से अतिकल्पना का आग्रह प्रदर्शित करता है। एक तो मसि की प्यालियों द्वारा कवि के मानस-चक्षु के समक्ष चित्रकार की प्यालियों का चित्र है और 'द्वय' प्यालियों द्वारा आधुनिक 'दस्तियों का चित्र सामने आता है,

---

* The construction made by some imaginative writers is so novel and gigantic that it is sometimes difficult to believe that they owe their all parts to the experience of the maker of them. The novelty consists in the re-arrangement ; and this takes place in obedience to some governing idea or purpose.
—*Benjamin Dumville : The Fundamentals of Psych'ology.*

फिर आँखें झरती हैं, कुछ मसि-प्यालियाँ नहीं, अतः इनमें दूरान्वित लाक्षणिकता का आरोप स्वीकार करना पड़ेगा। उत्प्रेक्षा में 'जनु' 'मानों' आदि के प्रयोग द्वारा असंभव की संभवनीयता का मार्जन हो जाता है। अक्षर—यहाँ शब्द समझना चाहिए— भावनाओं का प्रतीकत्व करते हैं। साँसें अन्तर की भावना प्रकट करती हैं, सुधि की याद दिलाती हैं; ऐसी अवस्था में श्वासों और अक्षर का समन्वित चित्र है। अलंकारवादी कहेंगे, रूपकगर्भित उपमा-विधान ही सौन्दर्य का कारण है अन्यथा उपमा की ध्वनि। उपमा-रूपक-विधान में जहाँ एक ओर परम्परा के निर्वाह का आग्रह रहता है वहाँ उनके बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव-दर्शन के लिए व्याख्या का अभाव। कवि अपने चित्रों में जब व्याख्या भी उपस्थित करता है, मानना पड़ेगा कि उसका मोह अलंकार-विधान मात्र पर नहीं; बल्कि भावनाओं के मूर्त-विधान पर है, और जो कल्पना का विषय है।

कल्पना की तीन कोटियाँ हैं—बौद्धिक, सौन्दर्य-विषयक और व्यावहारिक। बुद्धि के आधार-स्वरूप जब कल्पना आती है, वह बौद्धिक-चेतना-सम्पन्न है। बौद्धिक कल्पना विचार अथवा अन्वेषण का आधार उपस्थित करती है और इस प्रकार विकल्प की जन्मदात्री है। यही वैज्ञानिकों के काम आती है। विकल्प का आभास देकर वह कल्पना तर्क का रूप ग्रहण कर बौद्धिक हो जाती है। सौन्दर्य-निर्माण, सौन्दर्य-बोध एवं सौन्दर्यानुभूति उत्पन्न करनेवाली कल्पना ही सौन्दर्यविषयक है। कला की सफलता सौन्दर्य और उसकी अनुभूति की अभिव्यक्ति में है। सौन्दर्यानुभूति कला के प्राण हैं और अभिव्यक्ति उसका कलेवर, अतः कलाकार इसी कल्पना का पुजारी है, उपासक है और, तात्त्विक दृष्टि से इसे ही कारयित्री कल्पना अथवा सहजा प्रतिभा कहना उचित होगा। सृष्टितत्त्वों का विभिन्न मिश्रण जिस प्रकार रूप-विधान है, उसी प्रकार कल्पना की कारयित्री शक्ति विभिन्न इन्द्रियसंबंधी मूर्त्त विधान के मेल द्वारा नव-निर्माण करने में प्रकट होती है। कला और कल्पना के संबंध-विचार में इसी कल्पना का विचार होना चाहिए। व्यावहारिक कल्पना उपयोगी कला का आधार है—यद्यपि 'उपयोगी कला' शब्द भ्रामक है और इसकी अर्थ-सीमा का विस्तार होना चाहिए। कल-पुर्जों अथवा उपयोगी औद्योगिक कला-वस्तु के निर्माण के लिए इसकी अपेक्षा होती है—मिल के मैनेजर, इंजीनियर, मिस्त्री, क्रिकेट के नायक, सेनापति आदि के लिए इसकी अपेक्षा स्वयं स्वीकृत है। यहाँ इतना और स्मरण रखना होगा कि परिस्थिति-विशेष में एक ही कल्पना भिन्न-भिन्न रूप ग्रहण कर सकती है

सौन्दर्य-गत बिम्ब-विधायिका कल्पना को कला का आधार स्वीकार किया गया है। विभिन्न इन्द्रिय द्वारा बिम्ब-ग्रहण और प्रत्यक्षीकरण होने के कारण इस कल्पना के रूप में अन्तर आता है। चक्षुरिन्द्रिय को प्रभावित करनेवाले बिम्बों का निर्माण करनेवाली कल्पना चाक्षुष होगी। इस कल्पना द्वारा निर्मित बिम्बों में रूप-विधान अधिक होगा। काव्य में इस प्रकार के शुद्ध रूप-विधान करनेवाले बिम्बों के दर्शन अधिक नहीं होते, इनके साथ दूसरे प्रकार के बिम्बों का मिश्रण भी हो जाता है। काव्य में चित्र और संगीत का संतुलित रूप अभिव्यक्त होता है। अर्थात् चाक्षुष बिम्बों का चित्रण शब्दों द्वारा होता है, अतः चाक्षुष बिम्बों के साथ श्राव्य बिम्बों का संतुलन हो जाता है। स्पर्श-गन्ध आदि के भी बिम्ब-संभव है, अंधों में इन बिम्बों के ग्रहण की अद्‌भुत क्षमता देखी जाती है। प्रत्येक वस्तु की—नगर, गाँव, सड़क, वन-प्रान्त, उद्यान और व्यक्ति की—अपनी भिन्न गन्ध है और प्रत्येक वस्तु अपनी गन्ध के कारण पहचानी जा सकती है। फ्रेंच लेखक जोला (Zola) में इसकी शक्ति विचित्र थी। चाक्षुष रूप-विधान का चित्र नीचे दिया जा रहा है, यद्यपि श्राव्य बिम्बों का प्रभाव भी कम नहीं—

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥—'कालिदास'
(शाकुन्तल)

["वल्कल इस रमणी के शरीर-योग्य न होने पर भी उसके द्वारा इसके शरीर की शोभा ही हो रही है; क्योंकि कमलपुष्प सेवार से घिरा हुआ होने पर भी रमणीय ही होता है। और 'चिह्न' (धब्बा) काला रहने पर भी चन्द्रमण्डल की कान्ति ही बढ़ाता है। वैसे ही यह सुन्दरी वल्कल में भी अधिक मनोहारिणी दीख पड़ती है। रम्य आकृतिवालों के लिए सभी वस्तुएं अलंकार हो जाती हैं!"]

कालिदास की उपमा (उपमा कालिदासस्य) प्रसिद्ध है; किन्तु वर्णन का महत्त्व उपमा की योग्यता के कारण नहीं, बल्कि तदनुरूप मूर्त्त-विधान में है जो कल्पनाश्रित है। 'सरसिज···रम्यम्' के साथ ही शैवाल से घिरे कमल का चित्र आँखों के सामने आता है, इसी प्रकार अन्य रूप भी। जिसने शैवाल से घिरे कमल को नहीं देखा है, अथवा कल्पना करने की जिसमें शक्ति नहीं उसके लिए यह वर्णन कोई चित्र उपस्थित नहीं करता। पाठक में भी कल्पना होनी

चाहिए, और बहुत संभव है कि शैवाल से घिरे कमल को न देखने पर भी, शैवाल और कमल अथवा कुमुद की स्वतन्त्र स्थितियों का एकीकरण कर, शैवाल से घिरे कमल का चित्र वह मानस-चक्षुओं के सामने ला खड़ा करे—अतः कवि की सफलता इस प्रकार के मूर्त्त-विधान में है। उपमा की दृष्टि से देखने पर तो 'मलिन···तनोति' में निर्वाह उत्तम नहीं कहा जायगा—एक तो चन्द्रमा के इस वर्णन में रूढ़िगत परम्परा का पालन है और दूसरे वल्कल से जिस प्रकार सुन्दरी घिरी है, उसी प्रकार कलंक से चन्द्रमा नहीं। चन्द्रमा की मलिनता अन्तरस्थ है और वल्कल ऊपर से धारण किया गया है, अतः प्रभविष्णुता केवल सादृश्य अथवा सारूप्य-विधान के कारण नहीं, बल्कि समान प्रभाव के कारण है, जो चाक्षुष मूर्त्त-विधान द्वारा महत्त्वपूर्ण हो उठा है।

खींच ऐंचीला भ्रू-सुरचाप, शैल की सुधि यों बारंबार।
हिला हरियाली का सुदुकूल, झुला झरनों का झिलमिल हार॥
जलद-पट से दिखला मुखचन्द्र, पलक पलपल चपला का प्यार।
भग्न उर पर भूधर-सा हाय, सुमुखि धर देती है साकार॥—'पंत'

अभिधा-वैचित्र्यगत रूपक इसमें साहित्य-शास्त्री मानता है। कल्पना के नव विधान की जो सीमा उपर्युक्त पंक्तियों में निर्धारित की गई है, उसीके अन्तर्गत यह चित्र आता है। 'भ्रू-सुरचाप' के रूपकत्व में 'एंचीलापन' की परम्परा है। 'शैल की सुधि' खींचने में जो रूपकत्व और चमत्कार है वह अलंकार-विधान के कारण नहीं, बल्कि कल्पना की विशदता के कारण है। 'भग्न उर पर भूधर-सा' में श्राव्य मूर्त्त-विधान का प्रभाव अधिक है। इस प्रकार के रूप-विधान में भी कवि विभिन्न चित्रों को एक ही पट-भूमि पर अंकित करता है। पाठक की कठिनाई विभिन्न चित्रों के दूरान्वित समन्वय के कारण है। कारण, दोनों के सामान्य संबंध का व्याख्या कवि नहीं करता और यदि वह व्याख्या करने लगे तो काव्यत्व नष्ट हो उठेगा।

कहा जाता है कि मिल्टन को कविता समझने के लिए मिल्टन होने की आवश्यकता है। इसका अर्थ यह नहीं कि मिल्टन की कविता मिल्टन के सिवा और कोई अन्य व्यक्ति नहीं समझ सकता, बल्कि यह है कि जिसी प्रकार की उदात्त कल्पना उसके 'पाराडाइज लास्ट' में है, उसी प्रकार की कल्पना पाठक में होनी चाहिए। काव्य के संबंध में इसीलिए कहा जाता है—"यही कारण है कि यदि किसी कविता के अर्थ जानने पर हम जोर दें

तो केवल यही उत्तर होगा कि इसका अर्थ यही है।"* कवि आलोचक को सदा ऐसा उपदेश देता आया है। एक कवि ने लिखा है—"प्रेमाधिक्य में कवि जो निर्माण करता है, आलोचक उसे नष्ट कर देता है।" कीट्स ने 'लेमिया' शीर्षक कविता में लिखा है—"क्या ज्ञान के स्पर्शमात्र से सौन्दर्य उड़ नहीं जाता? दर्शन (ज्ञान) देवदूत के पर कतर देगा।"

.....Do not all charms fly
At the touch of cold philosophy?

.....

Philosophy will clip an Angel's wings

एक और कवि फरमाते हैं—"कोई कार्य सुलभ नहीं, अतः अन्य मनुष्यों की अपेक्षा कवियों पर अधिक दया करो।"

कवि अलोचक में कल्पना का अभाव मान बैठता है। कविता करने के लिए जिस प्रकार सहजा प्रतिभा की आवश्यकता है, उसी प्रकार काव्य की अर्थभूमि पर पहुँचने के लिए पाठक अथवा आलोचक में भी ग्रहणशीला (Receptive) कल्पना की। इसके लिए भी पूर्वानुभूति एवं निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान की अपेक्षा होगी। जिसने कभी विरह का अनुभव नहीं किया है—चाहे वह विरह किसी का हो—उसके लिए आँसुओं का समुद्र बहाकर भी उर्मिला उपेक्षिता ही रहेगी। ग्रहणशीला कल्पना एक ओर जहाँ काव्य-चित्र हृदयंगम करा सकती है, वहाँ व्याख्यात्मक भी हो सकती है—यद्यपि दोनों को एक मानने का आग्रह कुछ मनोवैज्ञानिकों में देखा जाता है। सहृदय सामाजिक और आलोचक में कल्पना के इसी रूप के कारण, अन्तर है। आलोचक चित्रों को एक दूसरे से अलग कर देखने का इच्छुक है। 'मेघदूत' में कालिदास ने मेघ द्वारा संदेश भेजा है। रामगिरि से लेकर अलका तक के वायु-मार्ग का वर्णन कर विरहिणी प्रिया का संदेश दिया है। मार्ग से कवि परिचित है, वह यहाँ तक जानता है कि उज्जयिनी उस मार्ग में नहीं पड़ती, अतः मेघ से वह कहता है—

---

* This is also the reason why if we insist on asking for the meaning of such a poem we can only be answered, It means itself'.

वक्रः पंथा यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशां
सौधोत्संगप्रणयविमुखो मास्म भूरुज्जयिन्याः
विद्युद्दामस्फुरितचकितैस्तत्र पौराङ्गनानां
लोलापाङ्गैर्यदि न रमसे लोचनैर्वञ्चितोऽसि ।*

संदेशवाहक को मार्ग बतलाना, उससे संदेश कहना, स्वभाविक ही है। कवि-कल्पना मेघ को संदेशवाहक के रूप में लेती है। कवि अभीप्सित दिशा में उड़नेवाले मेघों को देख संदेश भेजने की कल्पना करता है। कला की कृत्रिमता प्राकृतिक होने का आभास देती है और संभाव्य-असंभाव्य का विचार छोड़ रागात्मक अनुभूति तीव्र करती है। कल्पना इसी कार्य के लिए आती है। 'रेलिया सवतिया पियहिं ले के भागी' में वही कल्पना है, किन्तु कवि-कृत अकृत्रिमताभास लेकर नहीं, बल्कि स्वाभाविकता से पूर्ण। कल्पना-जन्य रागात्मक आवेश और उद्वेग के लिए पाठक में भी ग्रहणशीला कल्पना होनी चाहिए। 'मेघदूत की सजल कल्पना' को असम्भाव्य कहकर छोड़नेवाले पाठकों को कल्पनाहीन समझा जाना ही चाहिए। उसी प्रकार आलोचक में व्याख्यात्मक कल्पना की अपेक्षा होगी, जिससे कवि की भावुकता, कल्पना, सौन्दर्य-चित्र एवं संगीत का मर्म पाठकों के समक्ष रखा जा सके। आलोचना में वैयक्तिक रुचि का अभाव माननेवाले इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को भूल जाते हैं, इसके संबंध में इतना ही कहा जा सकता है कि वह रुचि परिष्कृत होती है और सौन्दर्य-सम्बन्धी भावना उसका नियमन करती है।

कल्पना की इस संक्षिप्त रूप-विवेचना के पश्चात् काव्य अथच कला और इसके संबंध की विवेचना अपेक्षित है। कला जीवन एवं उसके तत्त्वों और रूपों का सौन्दर्यगत चित्रण है। 'आइडियलिज्म' का हिन्दी-अनुवाद 'आदर्शवाद' न होकर 'भावात्मक' होना चाहिए। जिसे लोग आदर्शवाद कहते हैं, उसका संबंध भावात्मकता से है। कवि अथवा कलाकार जीवन के उन्हीं तत्त्वों अथवा रूप को लेता है, जो उसमें भावात्मक आवेश भरते हैं। इस प्रकार 'कला' जीवन का यथातथ्य चित्रण हो नहीं

---

* 'यद्यपि उत्तर चलते तुझको उज्जयिनी जाने में फेर,
उसके महलों का मन रखने में तथापि मत करना देर।
चल चपला से चकित चुटीले नागरियों के बाँके नैन,
यदि न उलझकर तुझे लुभावें समझ जन्म वंचित बेचैन।"

—आचार्य केशवप्रसाद मिश्र कृत अनुवाद

सकती। ऐसी अवस्था में आदर्शवाद और यथार्थवाद 'टेकनिक' के बाह्य उपकरणमात्र हैं। अपने विचार, अनुभूति, आकांक्षा, और स्वप्न को अभिव्यक्त करने के लिए कलाकार किसी-न-किसी माध्यम का आधार ग्रहण करता है। माध्यम जहाँ उसकी भावनाओं को मूर्त्तरूप देता है वहाँ अभिव्यक्ति की सीमाएँ भी निर्धारित कर देता है। कल्पना माध्यम की विवशताओं के कारण विभिन्न रूप ग्रहण करती है। चित्रकार की कल्पना जहाँ चाक्षुष मूर्त्त-विधान उपस्थित करने में है, वहाँ कवि की कल्पना चाक्षुष एवं श्राव्य दोनों प्रकार के संतुलित मूर्त्त-विधान में। माध्यम की इस अपेक्षाकृत सूक्ष्मता के कारण ही संगीत-कला में श्रेष्ठता है, यद्यपि इसके कारण भावोन्मेष की परिधि संकुचित हो उठती है और काव्य को प्रधानता मिलती है।

सौंदर्य-विधान के इस रूप में कल्पना काव्य को दो रूप से प्रभावित करती है। एक ओर तो वह कृत्रिमता को प्राकृत रूप देती है, असंभाव्य को संभाव्य की सीमा में लाती है और दूसरी ओर सौंदर्य की भावना को उन्मेष देती है। कवित्व का आनंद इसी में है और इसे मनोवैज्ञानिक make-believe कहते हैं। कल्पना और आविष्कार में अन्तर है, यद्यपि आविष्कार के बीज रूप में कल्पना का सन्निवेश है। कथानक-निर्माण के वैचित्र्य में आविष्कारक-बुद्धि का पूर्ण उपयोग करने पर भी चरित्र-निर्माण में कल्पना का अभाव सम्भव है। चरित्र लेखक की इच्छा से परिचालित यंत्र की भाँति हो सकते हैं, वातावरण कृत्रिम और बोझिल हो सकता है। इस प्रकार की कथा पढ़ने पर कोई मानसिक उत्तेजना नहीं होती। आस्कर-वाइल्ड की 'झूठ बोलने की कला' (The art of lying) में प्राण, उत्तेजना, जागरण और प्रेरणा के उन्मेष के लिए कल्पना एवं सहजा-प्रतिभा की अपेक्षा होती है; किन्तु इनके साथ ही सौन्दर्यानुभूति हो, यह इसकी शर्त है और इसे ही आलोचक अपनी भाषा में 'कलात्मक आग्रह' कहता है। इस शक्ति द्वारा ही चित्रों में भावात्मकता, विशिष्टता एवं सांकेतिकता आती है—और कलात्मकता एवं सौन्दर्य भी।

पर्ण-कुञ्जों में न मर्मर-गान, सो गया थककर शिथिल पवमान
अब न जल पर रश्मि बिम्बित लाल, मूँद उर में स्वप्न सोया ताल
सामने द्रुमराजि तमसाकार, बोलते तम में विहग दो-चार
झींगुरों में रोर खग के लीन, दीखते ज्यों एकरव अस्पष्ट अर्थविहीन
दूर-श्रुत अस्फुट कहीं की तान, बोलते मानों तिमिर के प्राण।

—'दिनकर' [सन्ध्या]

यद्यपि 'एक गहरी शान्ति चारों ओर' और शेक्सपीयर के—
When the sweet wind did gently kiss the trees.
And they did make no noice.*

—जैसी गंभीर शान्ति का निराकरण 'बोलते·····विहीन' में आकर कवि कर देता है, तो भी सन्ध्या की उदासीनता के साथ सामञ्जस्य उपस्थित कर वह—'आँसुओं की दो कनी इस साँझ का वरदान, अश्रु के दो विन्दु पिछली प्रीति की पहचान' की अर्थ-भूमि पर ला उपस्थित करता है और पाठक को विश्वास हो उठता है कि विवसना संध्या की धूमिल छाया जीवन की असफलता, अर्थ-विहीनता एवं विवशता का करुण चित्र है। सन्ध्या का यह बौद्धिक नहीं, बल्कि भावात्मक चित्र है और तदनुरूप भावना जागरित कर सकने की क्षमता—संवेदनशीलता—में ही कवि की सफलता है। इस सफलता का मूल सहजा प्रतिभा द्वारा भावनाओं के साधारणीकरण में है, अथवा मनोवैज्ञानिकों की भाषा में कहेंगे कि पाठक में कल्पना द्वारा विश्वास उत्पन्न कर सकने की क्षमता में है। सन्ध्या के इस वर्णन में मूर्त्त-विधान और सांकेतिकता है। कल्पना-गत सांकेतिकता का आग्रह महादेवी में अधिक है—'शलभ, मैं शापमय वर हूँ, किसी का दीप निष्ठुर हूँ।' कुल दो पंक्तियों में ही महादेवी पूरी कहानी कह देती हैं। महादेवी के गीतों को प्रथम पंक्तियों में इसीलिए अधिक उन्मेष है। बाद की पंक्तियों में तो वह यथासम्भव उसीकी व्याख्या उपस्थित करती हैं। वेदना-विदग्ध एवं अनुपम रहस्य-दीप्त व्यक्तित्व की गहरी छाप इन पंक्तियों में है। इस वेदना की अनुभूति को रवीन्द्रनाथ के 'शाहजहाँ' की भाँति मूर्त्त रूप देने के लिए ताजमहल-निर्माण की आवश्यकता नहीं; बल्कि जिसने इन निष्ठुर प्राणों में ज्वाला भड़का दी अथवा जिसके निष्ठुर हाथों ने प्राणों में आग जला दी, उसीके वरदान-रूप में शाप-मय जीवन है। जलन शाप होकर भी अक्षय्य वरदान है। कारण, यही तो व्यक्तित्व है, वैयक्तिकता है। वेदना-विदग्धता की सांकेतिकता शेली के चित्रों की भाँति है। स्पष्ट रेखा-बद्धता 'निराला' के इस चित्र में है—

मधुऋतु रात, मधुर अधरों की पी मधु सुध-बुध खो ली,
खुले अलक, मुँद गये पलक-दल, श्रम-सुख की हद हो ली—
बनी रति की छवि भोली।

—'गीतिका' (४१)

---

* जब मधुर समीर वृक्षों के कोमल चुम्बन लेता है। और वे किसी प्रकार का शब्द नहीं करते।

भावना की चित्रमत्ता के साथ तीव्रता और भावोन्मेष द्वारा कलात्मक सौन्दर्य अंकित करना कल्पना का कार्य है। चाक्षुष, श्राव्य आदि विम्बों द्वारा भाव-प्रत्यक्षीकरण से इसे भिन्न समझना चाहिए। अलंकार के नव-विधान में इसका आंशिक रूप प्रकट होता है; किन्तु पूर्ण रूप समान-प्रभाव उत्पन्न करने में है। केवल अलंकारत्व की रक्षा में प्रयत्नशील उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि के प्रयोग में इसका माधुर्य नष्ट हो जाता है। किन्तु प्रभाव की तीव्रता, गंभीरता और स्थायित्व अंकित करने के प्रयास में अलंकार-विधान कल्पना का अंग बन अभिनव सौन्दर्य की सृष्टि करता है। छायावादी कविताओं में कल्पना के इस रूप का विशद चित्र उपस्थित किया गया है। काव्य के आधार-रूप में कवि साधारण-से-साधारण वस्तु लेता है और उसके विशिष्ट रूप का पाठक के समक्ष उपस्थित करता है, वैसे विषयों में तीव्रता लाने के लिए कल्पना का सहयोग अपेक्षित होता है। वस्तु अपनी प्राकृतिक अवस्था में कोई प्रभाव न डाल सकने पर भी कला के माध्यम से उपस्थित होकर प्रभाव उत्पन्न करती है, और पाठक को भ्रम होने लगता है कि उसने वैसी वस्तु देखी अथवा सुनी तो नहीं। कारण, जीवन के सामान्य रूप से सम्बद्ध होने के कारण उसकी विशिष्टता वह देख पाता नहीं। अतः कल्पना का सहारा पाकर अनुभूति नवीनता, ताजगी और गतिमूलकता देती है।

कल्पना का स्वप्न और दिवास्वप्न के साथ यथाक्रम संबंध दिखाने की चेष्टा मनस्तत्त्व-विश्लेषण-शास्त्र के प्रवर्त्तक 'फ्रायड' ने की है। इस नवीन शास्त्र के अनुसार स्वप्न में अतृप्त वासनाओं की तृप्ति होती है, किन्तु यह वासना-पूर्ति सीधी और सरल गति से नहीं होती। सामाजिक, नैतिक धारणाएँ और संस्कार मूलगत भावना की परितुष्टि में बाधक हैं, उसी प्रकार मानसिक संतुष्टि के क्षेत्र में भी अवरोधक का सामना करना पड़ता है। फलतः स्वप्न-चेतना आकुञ्चन, रूपान्तरकरण, आरोपण, विस्तारण एवं मूर्तीकरण का प्रयोग करती है और इस रूप में स्वप्न-गत भावनाओं और दबी वासनाओं का विश्लेषण साधारण मनुष्य के लिए सम्भव नहीं होता। प्राचीन काल में स्वप्नों का महत्त्व भविष्यद्वाणी के रूप में प्रतिष्ठित था। स्वप्न-विज्ञान को मनस्तत्त्व-विश्लेषण-शास्त्र ने अधिक प्रधानता दी। कारण, इसके द्वारा ही अचेतन मानस-प्रदेश का द्वार खुल पाता है। वासना-गत स्थिति के कारण स्वप्न और कला पर विचार किया जाता है। कल्पना में प्रत्यक्ष-ज्ञान अपने यथार्थ और साधारण रूप में नहीं रहता, बल्कि साहचर्य-संबंधी व्यापक नियम के कारण नवीन रूप धारण कर लेता है। जिस प्रकार स्वप्न

के माध्यम से किसी के अन्तःप्रदेश में प्रवेश किया जा सकता है/उसी प्रकार कला के माध्यम से कलाकार की मानसिक क्रियाओं और दबी वासनाओं का अध्ययन संभव है। काम-वासना का उन्नयन कर कलाकार उन्हें नवीन रूप दे देता है और माध्यम रूप में आकुञ्चन, रूपान्तरकरण, आरोपण, विस्तारण एवं मूर्तीकरण का प्रयोग करता है; इस रूप में कला का उदात्त रूप मूल काम-वासना का रूपान्तरमात्र है। सौन्दर्य भावना के मूल में यौन-आकर्षण का भाव संचित है और मनस्तत्त्व-विश्लेषकों ने इस दृष्टि से अनेक कलाकारों का विश्लेषण किया है। 'अरस्तू' ने दुःखान्त नाटकों के संबंध में विचार करते समय रेचन- (Catharsis) क्रिया द्वारा भय और करुण के विरेचन को आनन्दानुभूति का कारण माना है। 'फ्रायड' ने इस सिद्धांत को प्रत्येक कला और रागात्मक अनुभूति के लिए विस्तृत किया। संस्कृत के काव्य-शास्त्र-संबंधी ग्रन्थों में रसानुभूति को ब्रह्मानंद-सहादर कहा गया है और करुण आदि में आनन्दानुभूति को सहृदय की अनुभूति द्वारा प्रामाण्य। 'काव्य-प्रकाश' के प्रारंभ में 'मम्मट' ने विघ्नों के विनाश के लिए 'भारती' की वन्दना की है जिसमें 'हलादैकमयीम्' कहकर वाणी का स्मरण किया है और इसे स्पष्ट करने के लिए वृत्ति में कहा गया है कि विधाता की सृष्टि सुख-दुःख-मोह (सांख्य के अनुसार) तीनों गुणों से मिश्रित है। सत्त्व सुख का, रजस् दुःख का और तमस् मोह का कारण है। रजस् और तमस् के निराकरण द्वारा अतः, सत्त्वोदय होता है। ऐसी अवस्था में काव्य को दुःख-निवृत्ति का आधार माना गया है। 'सकलप्रयोजनमौलिभूतम्' (आनंद०) को काव्य का उद्देश्य माना जाता है। स्वप्न द्वारा जिस संतुष्टि की प्राप्ति होती है, कुछ उसी प्रकार की संतुष्टि काव्य द्वारा होती है। अतः केवल क्रिया के कारण ही नहीं, बल्कि उद्देश्य के सादृश्य से भी कल्पना और स्वप्न का अविच्छेद्य संबंध माना गया है।

स्वप्नश चेतन मनःस्थित संघर्ष का फल है, अतः अचेतन (unconscious) और सहज (spontaneous) है। कल्पना भी क्या सहज और अप्रयत्न-कृत है? प्राचीन कवियों ने वाणी, सरस्वती अथवा 'म्यूज' (muse) से प्रेरणा और उन्मेष पाने का दावा किया है। 'वाणी स्वयं उन्मेष देती है'—* ऐसा सुकरात ने कहा है। यूनानी नाट्यकार गेटे, और मिल्टन आदि ने इस सहज उन्मेष को प्रेरणा स्वीकार की है। किसी उपन्यासकार ने लिखा है

* The Muse inspires men herself.

कि चरित्र उसपर अधिकार कर लेते हैं और उनपर उसका कोई वश नहीं रहता। मनोवैज्ञानिकों ने कल्पना का प्रयत्नकृत रूप माना है। काव्य-रचना के प्रारम्भ में ऐसी कल्पना की स्थिति रहने पर भी रचना के अनुक्रम में कल्पना कवि को आक्रांत कर लेता है, अन्यथा प्रभविष्णुता और संवेदन-शीलता नहीं आ सकती। जिस काव्य में प्रयत्नकृत कल्पना का प्राधान्य रहता है, वह सहज रूप में न प्रभावित कर सकती है और न बोधगम्य ही होगी। एक सीमा तक काव्य को अचेतन और सहज स्वीकार करना पड़ेगा, अतः स्वप्न-जैसा आवेश कल्पना में भी है।

हिन्दी-काव्य-जगत् के किसी-किसी कोने से अनुभूति और सत्यता की दुहाई के साथ कल्पना के बहिष्कार का आवाज़ सुनाई पड़ रही है। उसके विचार में कल्पना और अनुभूति में विरोध है। कल्पना निर्मूल और निराधार नहीं, इसकी विवेचना इन पंक्तियों में हुई है। कल्पना नवीन रागात्मिका वृत्ति जागरित नहीं करती, रागात्मिका वृत्ति के उभरनेवाले क्षणों को प्रत्यक्ष करती है तथा अनुभूत को पूर्वानुभूति के साथ समन्वित कर आवेग, आवेश, तीव्रता और गंभीरता प्रदान करती है। अनुभूति को दुहाई देनेवाले घटना को सत्यता को ही उसकी वास्तविकता समझते हैं। घटना का महत्त्व रागात्मिका वृत्ति जागरित करने में है। घटनाओं का संबंध इतिहास से है और तज्जन्य अनुभूति का साहित्य और कला से। पत्नी के अभाव में विरह-वर्णन को कविता पढ़ कवि को लांछित करते समय लोगों को भूलना न चाहिए कि केवल पत्नी का विरह-वर्णन सामाजिक और नैतिक पतन का लक्षण है। कारण, नैतिक और सामाजिक विरोध के भय से वह कवि बिना भौंरवाली प्रिया के विरह का वर्णन भी नहीं कर पाता। रीतिकालीन कविता में कृष्ण को 'रसिया' और राधा को सामान्य नायिका बनाने का यही रहस्य है। समाज जहाँ व्यक्ति पर ऐसे प्रतिबंध लगा देता है, वहाँ इस प्रकार के वर्णन के अतिरिक्त ऐसी अनुभूति को अभिव्यक्त करने का और कोई माध्यम नहीं रहता। पत्नी ही सदा प्रिया है, अथवा प्रिया ही सदा पत्नी है, ऐसा तो स्वीकार नहीं किया जा सकता। 'स्वप्न' की विकृत प्रतिमाओं का कारण सामाजिक नैतिक, भावनाजन्य संस्कार का अवरोध है। वृत्तियाँ स्वाभाविक प्रवाह में बहती हैं, नियमन उन्हें विकृत करता है, अतः सत्यता का संबंध घटना की वस्तुगत स्थिति मात्र से नहीं, बल्कि अनुभूति से है। जो केवल कल्पना के द्वारा अनुभूति का उन्मेष चाहते हैं, उनके काव्य में संवेदनशीलता नहीं हो सकती

किन्तु जो कल्पना अनुभूति के उपयुक्त वातावरण उपस्थित करती, एवं तीव्रता, गंभीरता और संक्षोभ देती है, वह काव्य में सदा आदृत होगी।

कल्पना का यह विरोध दूरान्वित सादृश्य और सारूप्य के विधान के कारण है। कल्पना वैसे चित्रों में स्पष्टता देने के स्थान में अस्पष्टता और संदिग्धता देती है, फलतः पाठक की ग्रहणशीला कल्पना उस चित्र में रंग भर नहीं पाती, और दूरान्विता और बोध-हीनता देख वह कल्पना का ही विरोध करने लगता है। महादेवी के चित्रों की अस्पष्टता के मूल में यही दूरान्वित सादृश्य-सारूप्य-विधान है। चित्रों की रेखाओं में उन्होंने कविता की भावना को बाँधने का जहाँ भी प्रयास किया है, वहाँ माध्यम की विभिन्नता के कारण दो प्रकार के मूर्त्त-विधान उपस्थित हो जाते हैं और दोनों, अतः, परिचय-हीनता के क्षेत्र में प्रवेश पाने लगते हैं।

कल्पना, इस प्रकार, काव्य अथवा कला में अनुभूति को स्पष्टता, गंभीरता, तीव्रता, संवेग और आवेश देती है। कल्पना स्वतंत्र सृष्टि नहीं कर सकती, वह केवल नवीन रूप ही उपस्थित कर पाती है, जिसे देख सहृदय चमत्कृत हो उठता है। कल्पना 'व्योम-कुञ्जों की परी', भी नहीं, 'आकाश-लता' भी नहीं, भूमि के गर्भ से ही उसका जन्म है। उसके स्पर्श में नूतनता, भावोद्रेक और चमत्कार-वैचित्र्य है। इस प्रकार वह केवल आकृष्ट ही नहीं करती, बल्कि मानसिक प्रत्यक्षीकरण द्वारा आधार भी उपस्थित करती है। घटनाओं के संघटन और रूपान्तरकरण द्वारा अनुभूति के उपयुक्त वातावरण तैयार करती है और साधारण-से-साधारण घटनाओं को उन्नयन द्वारा चेतना और सजीवता देती है। कल्पना अलक्ष्य को लक्ष्य, अमूर्त्त को मूर्त्त ही नहीं बनाती, बल्कि मानवीय रागात्मिका वृत्ति, आकांक्षा और वासना के उदात्त चित्र उपस्थित करती है, जिसमें कला की चेतना-धारा और सौन्दर्य-बोध का आग्रह है।/

[हिमालय : अग्रहण, संवत् २००३]

कविता और उसका स्वरूप

कविता क्या है? कवि कौन है? इत्यादि प्रश्न सदा से मनुष्य को उद्वेलित करते रहे हैं। कवि, दार्शनिक, आलोचक सभी ने इन प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयास किया और उसके फलस्वरूप काव्यगत अनेक 'वादों' का जन्म हुआ। प्रत्येक परिभाषा का आधार केवल व्यक्तिगत संस्कार न था, बल्कि सामाजिक भावना का तत्कालीन स्वरूप भी था। इसके अतिरिक्त काव्य को अन्य कलाओं की भाँति निरुद्देश्य मानते हुए भी उसके उद्देश्य की कल्पना का तिरस्कार भी न हो सका और लक्षण बनाते समय उस उद्देश्य की पूर्त्ति का ध्यान लक्षणकार में अवश्य रहा। कविता को परिभाषा के चौखटे में कस सकना सम्भव नहीं, और इस प्रकार का प्रयत्न सफल नहीं हो सकता, यद्यपि आज तक इसके प्रयत्न होते रहे हैं। काव्य की आत्मा अथवा स्वरूप के संबंध में मतभेद रहने पर भी 'कविता' कौन-सी है इसमें अधिक मतभेद नहीं रहा है।

प्राचीन काल में साहित्य का तात्पर्य 'काव्य' था। साहित्य शब्द आज इतने विस्तृत अर्थ का परिचायक है कि उसकी परिधि में भौतिक विज्ञान से लेकर अध्यात्मवाद का तथा भावुकता से पूर्ण कविता से लेकर साधारण विज्ञापन तक का प्रवेश है। प्राचीन काल में कोष से लेकर वैद्यक-ग्रन्थ तक छन्दोबद्ध थे; लेकिन उन्हें काव्य की श्रेणी के अन्तर्गत नहीं माना जाता था। रामायण को आदि-काव्य मानने के हम अभ्यासी हैं। इस प्रकार काव्य-शब्द का प्रयोग कई अर्थों में होता आया है। इसके विभिन्न अर्थों पर विचार करना यहाँ अभीष्ट जान पड़ता है।

कविता शब्द का प्रयोग अनेक अवस्थाओं में गद्य से विभिन्नता सूचित करने के लिए होता है। गद्य में लेखक अपने विचारों अथवा किसी

तथ्य के निरूपण का प्रयत्न करता है। विवेचना, आलोचना, तथ्य-निरूपण आदि कार्य गद्य के माध्यम से होते हैं। गद्यात्मक (Prosaic) शब्द का प्रयोग लोग रुक्षता एवं नीरसता के अर्थ में करते हैं। इसका तात्पर्य है कि कविता छन्द में हो सकती है और गद्य इसके लिए अनुपयुक्त है ; किन्तु साधारण विचार के द्वारा भी इस मत की भ्रमात्मकता सिद्ध की जा सकती है। छन्द-बन्धन स्वीकार करने से ही किसी को काव्य की संज्ञा नहीं मिल सकती। यदि ऐसा होता तो ओषधि के विज्ञापन 'महाकाव्य' की संज्ञा प्राप्त कर लेते। इसके साथ ही साथ गद्य में भावुकता अस्वीकृत नहीं हो सकती। यह भी आवश्यक नहीं कि गद्य में रुक्षता हो। आजकल के गद्य-गीत इसके प्रमाण हैं। इस मत में इस कल्पना का संकेत है कि वस्तु-विशेष काव्योपयोगी है और उस वस्तु अथवा भाव का वर्णन काव्य के अन्तर्गत आता है—चाहे अभिव्यक्ति का माध्यम पद्य हो अथवा गद्य। काव्यात्मक विषय की चर्चा पहले अधिक सुनने में आती थी। जीवन-विकास के साथ ही इस मत में परिवर्तन होता गया। कविता किसी वस्तु अथवा भाव से नहीं, अपितु उसकी अभिव्यञ्जन-शैली से सम्बद्ध है। पद्य को कविता स्वीकार करने का अर्थ है केवल उसके बाह्य स्वरूप पर ध्यान तथा कल्पना और सौंदर्य, विषय और आत्मा का तिरस्कार। ऐसी अवस्था में पद्य और कविता में कोई अन्तर नहीं रह जाता। कविता की पद्यात्मकता स्वीकार कर काव्य को उसके उच्च स्थान से भ्रष्ट करना है।

कविता का अर्थ अत्युक्तिपूर्ण वर्णन भी लिया जाता है। इस मत को स्वीकार करने का अर्थ काव्य की यथार्थता अस्वीकृत करना है। कवि का वर्णन अत्युक्तिपूर्ण होता है ; किन्तु अत्युक्तिपूर्ण होना काव्य का एकमात्र अर्थ और लक्षण स्वीकार नहीं किया जा सकता। कवि पाठक के मानस पटल पर छाप डालना चाहता है और उसके लिए उस साधन का उसे अवलम्बन करना पड़ता है जिसे लोग अत्युक्तिपूर्ण वर्णन कहते हैं। कवि साधारण प्राणी से अधिक संवेदनशील होता है अथवा यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि अभ्यास और संस्कार के कारण संवेदनशीलता उसमें अधिक होती है ; अतः वस्तु अथवा भाव का अधिक प्रभाव उसके मानस पर पड़ता है और उन्हीं प्रभाव के क्षणों को जब वह बाँधने का प्रयास करता है, वह प्रभाव उसकी वाणी से मुखरित हो उठता है। अत्युक्तिपूर्ण कथन उसका उद्देश्य नहीं। अतः काव्य को केवल अत्युक्तिपूर्ण कथन स्वीकार नहीं किया जा सकता।

कविता का प्रयोग काव्यत्व के लिए होता है। इसका अर्थ है कि मनुष्य के मानस में उठनेवाले घात-प्रतिघात और क्रिया-प्रतिक्रिया को ही कविता कहते हैं। इसका अर्थ यह होगा कि प्रत्येक मनुष्य जीवन के किसी न किसी क्षण में कवि बन बैठता है। सम्भवतः कोई ऐसा नहीं, जिसके मानस में किसी प्रकार की भावना नहीं उठती हो। साधारणतया भावना-हीन कहकर हम जिसका खिल्ली उड़ाया करते हैं, उसके अन्तर में भी भावना की क्षीण, किन्तु स्पष्ट धारा प्रवाहित होती रहती है। कविता का संबंध इन वृत्तियों से अवश्य है; किन्तु वृत्तियाँ ही कविता नहीं है। काव्य के लिए अभिव्यञ्जना आवश्यक है। भावात्मक अभिव्यञ्जन के अभाव में तीव्र से तीव्रतर भावना को काव्य की संज्ञा नहीं मिल सकती। रागाक्रान्त मनुष्य में राग की तीव्रता के कारण रस-बोध की शक्ति नहीं रह जाती। वियोग - जनित व्यथा से तड़पनेवाले व्यक्ति को आनन्द नहीं मिलता। राग के अतिशय उद्वेग-पूर्ण क्षणों को उनकी अपेक्षाकृत शान्तावस्था में बाँधने का प्रयास कविता करती है। भावुकतामात्र यदि कविता होती, वाल्मीकि और कालिदास तथा तुलसी-कबीर की अधिकांश कविताओं को कविता कहने में संकोच होता। भावुकता को विचार का साहचर्य स्वीकार नहीं; विचार भावुकता का राहु है। लेकिन कविता से विचार का बहिष्कार हम नहीं कर सकते। कवि भावुक होता है, उसमें अधिक मात्रा में संवेदनशीलता है, इसका अर्थ यह नहीं कि कविता अतिशय भावुकता है। कविता को अतिभावुकतापूर्ण स्वीकार करने का अर्थ है कि उसमें विचारों का नियमन, आकांक्षा और कल्पना का समन्वय नहीं; शब्द और अर्थ के साहचर्य की आवश्यकता नहीं। कविता ऐसी अवस्था में Sentimentality के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह जाती। जो व्यक्ति अपनी सौंदर्यानुभूति को रंग, पत्थर, लय अथवा और किसी माध्यम से अभिव्यक्त करता है, उसे हम कलाकार कहते हैं; पार्थक्य सूचित करने के लिये उसे चित्रकार, मूर्तिकार अथवा संगीतज्ञ भी हम कहते हैं। सौंदर्यानुभूति और भावना किसी माध्यम से ही अभिव्यक्त होती हैं। इस प्रकार कला के स्वरूप-विवेचन के समय हमारा ध्यान तीन वस्तुओं की ओर जाता है; अनुभूति, माध्यम और उसकी अभिव्यञ्जना। पाठक के सामने मात्र अभिव्यञ्जना है, माध्यम को वह देखता है, किंतु इसका स्थान गौण है। पाठक अतः, अनुभूति से अभिव्यञ्जना की ओर नहीं, जैसा कलाकार के लिये संभव है, बल्कि अभिव्यञ्जना के द्वारा ही कलाकार की अनुभूति को हृदयंगम करने की चेष्टा करता है। कलाकार के लिये अभिव्यञ्जना गौण होते हुए भी पाठक के लिये प्रमुख

है। भावना विशेष के लिये एक ही अभिव्यञ्जना पूर्णतः उपयुक्त हो सकती है, कलाकार की शक्ति भावना को पूर्णतः उपयुक्त अभिव्यञ्जना-शैली में यदि बाँध नहीं पाती, कहना पड़ेगा, कवि अशक्त है और उसकी भावना भी। अभिव्यञ्जना का शक्ति की अपेक्षा इसलिये बढ़ जाती है समग्र चेतना को अभिभूत करनेवाले रागात्मक क्षण को उसकी अपेक्षाकृत शान्तावस्था में बाँधने का प्रयास कविता करती है। कोई कवि आज तक अपनी भावना को पूर्ण वाणी नहीं दे सका है। उसकी शक्ति उसे अधिक-से-अधिक सशक्त मुखरता देने में है। इस प्रकार शैली का माध्यम स्वीकार करने का अर्थ सीमाओं में भावनाओं को बाँधना है। बंधन शक्ति और निर्बलता दोनों का परिचायक है—शक्ति का इस अर्थ में कि सीमाओं का बंधन स्वीकार कर भी कवि कहाँ तक अपनी भावनाओं को उन्मुक्तता प्रदान कर सकता है और निर्बलता का इस अर्थ में कि उसे माध्यम की सीमाओं के भीतर ही उड़ने का अधिकार है और इस प्रकार वह अपनी भावनाओं में इतनी उड़ान नहीं भर सकता जितनी उन्मुक्तता प्राप्त है। इस प्रकार अतिशय भावुकता ही कविता है, इस मत को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

कविता का अर्थ उस रचना से भी लिया जाता है जिसका भौतिक जगत् से कोई संबंध नहीं; जो कहीं दूर, इस जगत् से परे कहीं क्षितिज-रेखा के समीप काल्पनिक जगत् बसाती है। कविता का संबंध उस स्वर्ण-स्वप्न निर्मित कल्पनालोक से है जहाँ की वास्तविकता ही अवास्तविक है। कल्पना का स्थान कविता में अस्वीकार नहीं किया जा सकता; किन्तु मात्र कल्पना अथवा अति कल्पना ही कविता नहीं कही जा सकती। दिवास्वप्न और कविता में ऐसी अवस्था में कोई अन्तर नहीं रह जायगा और कवि अफीमची बन बैठेगा। मानव-जीवन आशा, आदर्श और भावना से अनुप्राणित है। कविता अनुभूति के परिपूर्ण क्षणों की वाणी है, वैसी अवस्था में आशा-निराशा, सुख-दुःख, राग-द्वेष, रोष-आक्रोश की अभिव्यक्ति आवश्यक है। जीवन अस्तित्व का पर्याय नहीं यद्यपि अस्तित्व के अभाव में जीवन सम्भव नहीं; किंतु अस्तित्व ही जीवन नहीं। वृद्ध के जीवन-मोह में मात्र अस्तित्व का मोह है। मनुष्य अपनी अनुभूतियों एवं विचारों, आदर्शों और कल्पनाओं में जीवित रहता है। आज के विशृंखल, अभाव-परिपूर्ण जगत् में जीवन का दैन्य प्रबलतर हो उठा है। ऐसी अवस्था में काव्य यदि विशृंखलता का चित्र उपस्थित करे, हमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए। कविता इस प्रकार अनुभूति के उत्कर्ष की संकेतात्मक अभिव्यक्ति है।

कविता में राग की अभिव्यक्ति शब्द के द्वारा होती है। शब्द अर्थ-विशेष का संकेत देते हैं और इस प्रकार अर्थ-शक्ति-संभव शब्द अनुभूति और राग का संकेत करते हैं। हम देखते हैं कि कविता के लिए रागात्मिका शक्ति, अर्थ और शब्द की आवश्यकता है। शब्द और अर्थ के प्रश्न को मीमांसा आवश्यक दीख पड़ती है। आचार्यों में मतैक्य नहीं। विरोध का मूल कारण 'शब्द' में अर्थ है अथवा अर्थ अभिव्यक्त करने के लिये 'शब्द' है, इस प्रश्न को लेकर है। शब्द अनेकार्थी होते हैं। कोष-गत अर्थ के अतिरिक्त शब्द का वाक्यगत अर्थ भी होता है। एक अर्थ का सम्यक् रूप से अभिव्यक्त करने के लिये एक ही शब्द उपयुक्त हो सकता है। समानार्थी कहे जानेवाले शब्दों में भी अर्थ की विभिन्नता होती है। 'आँख' अर्थ होने पर भी 'नयन' और 'दृग' एक नहीं, 'कुच' और 'पयोधर' समान नहीं। समीर में जो स्निग्ध प्रवाह है, वह वायु के वेग में नहीं। शब्द-शक्ति का महत्त्व अर्थ प्रगट करने की क्षमता में है अतः शब्द और अर्थ को विभिन्न मानकर उन-पर विचार काव्य की दृष्टि से नहीं किया जा सकता। शब्द से भिन्न कोई अर्थ स्वीकार करना कविता को पहेली बनाना है। शब्द और अर्थ दोनों का महत्त्व उनकी संकेत-शक्ति में है। कवि जिस भावना को अभिव्यक्त करता है, शब्द और अर्थ दोनों मिलकर उस भावना को अभिव्यक्त करने में समर्थ होते हैं अथवा नहीं, यही काव्य समीक्षा का विषय है। भाषा, जिसमें शब्द और अर्थ दोनों का समावेश है,—क्योंकि अर्थ-हीन शब्द, भाषा नहीं है—संकेत-शक्ति-हीन होकर काव्योपयोगिनी नहीं हो सकती। स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि भाषा अथवा शब्द को क्या काव्योपयोगी अथवा अन्यथा की कोटि में विभाजित किया जा सकता है? वैसे समालोचकों का दल जो परम्परागत काव्य की रूढ़ियों से प्रभावित है, भाषा अथवा शब्द को इन कोटियों में विभाजित करने का इच्छुक है। वैसी भाषा जो परम्परागत नहीं होने के कारण संस्कार-बद्ध नहीं हो सकी है, उसे काव्यात्मक नहीं प्रतीत होती और वह आधुनिक कविता पर 'अकाव्यात्मकता' का दोष मढ़ता है। भाषा काव्यात्मक अथवा अन्यथा नहीं होती। रूक्षता एवं नियम-बद्धता के कारण खड़ी बोली कविता के उपयुक्त नहीं, ऐसा एक समय मत था, किन्तु खड़ी बोली ने समय आने पर इसे अन्यथा सिद्ध कर दिया। वर्डस्वर्थ ने प्रतिपादित किया था कि गद्य और पद्य दोनों की भाषा एक होनी चाहिए। आलोचकों का निर्णय है कि वह स्वयं अपनी सर्व-श्रेष्ठ कविताओं में अपने सिद्धान्त की रक्षा नहीं कर सका। मेरा तात्पर्य गद्य और काव्य की भाषाओं के

एकीकरण से नहीं है, बल्कि भाषा की संकेत-शक्ति है। गद्य का प्रयोग मुख्यतया तर्क एवं विचार द्वारा तथ्य-निरूपण में होता है, वैसी अवस्था में गद्य को भाषा में निश्चितता एवं स्पष्टता आवश्यक है, और काव्य की भाषा संकेतात्मक होती है, वैसी अवस्था में वे ही शब्द विभिन्न अर्थ-भूमि का संकेत करते हैं। आज का कवि आलोचक को भाषा की छान-बीन करते देखकर कह उठता है वह (आलोचक) 'कटोरे का पंचामृत रस छोड़ मात्र नक्कासी' देख रहा है। क्या सचमुच कविता में शब्द का कोई महत्व नहीं? यह कवि की हिमाकत है; यदि उसके शब्द अर्थ-भूमि की ओर नहीं ले जाते, यदि उसकी भाषा उसकी भावनाओं के उपयुक्त संकेत नहीं देती, यदि उसकी भाषा भावनाओं के प्रवाह में गतिरोध उपस्थित करती है, कहना होगा उसमें अनुभूति के आवेश का अभाव है। कविता में भावना और भाषा दोनों मिलकर एकाकार हो जाते हैं, भावना को हम भाषा के माध्यम से ही मानस-गोचर कर पाते हैं; अतः शब्द और अर्थ का काव्य में अन्यतम स्थान है। रमणीयार्थप्रतिपादक शब्द मात्र नहीं अपितु शब्द और अर्थ जिनमें भावना के उपयुक्त संकेतमत्ता हो, वही काव्योपयोगी हो सकते हैं।

मनुष्य अपनी अनुभूति और रागात्मक आवेश के कारण ही मनुष्य कहलाने का अधिकारी है। मनुष्य और पशु में राग-संस्कार का ही अन्तर है और मनुष्य में संवेदनशीलता है, वह दूसरों के रागात्मक आवेश से प्रभावित होता है और दूसरों को अपनी अनुभूति से प्रभावित करता है। रस-सिद्धान्त जिसमें रसात्मक वाक्य को ही काव्य स्वीकार किया गया है, मानवीय रागों के इस महत्त्व को समझता है; क्योंकि वासना रूप में स्थित स्थायी भाव मानवीय राग के अतिरिक्त और कुछ नहीं। वासना की संस्कार रूप से स्थिति स्वीकार कर उसे उद्बुद्ध कराने का अचेतन रूप से प्रयास काव्य द्वारा होता है। क्या वाक्य काव्य है? इस प्रश्न पर विचार करना होगा। वाक्य, साधारण अर्थ में पूर्ण विचार प्रकट करनेवाले शब्द-समूह को कहते हैं। अपने साधारण अर्थ में वाक्य काव्य नहीं हो सकता। वाक्य काव्यात्मक हो सकता है, किन्तु कविता नहीं।

साहित्यदर्पणकार ने [वाक्यं स्याद्योग्यताकांक्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः] आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति से युक्त पदसमूह को वाक्य स्वीकार किया है। रामायण रघुवंशादि को महाकाव्य स्वीकार करने का स्पष्ट अर्थ है कि उसने काव्य के अन्वित प्रभाव का मर्म समझा था। अन्यथा स्वयं उसके काव्य-लक्षण का विरोध हो जाता। कविता में इकाई और अन्विति होती है, अन्विति-

पूर्ण प्रभाव ही कविता की पूर्णता है। यदि भिन्न-भिन्न वाक्यों का भिन्न-भिन्न प्रभाव पाठक पर पड़े, तो अपने आप में अद्वितीय होने पर भी उन वाक्यों को कविता हम नहीं कह सकेंगे। कविता की सफलता इसी में है कि उसका पूर्ण प्रभाव पाठक पर इकाई के रूप में पड़ता है। अतः वाक्य से यहाँ तात्पर्य कथन से लेना पड़ेगा। रसात्मक वाक्य की व्याख्या, ऐसी अवस्था में आवश्यक हो जाती है। रस की स्थिति वाक्यों में सम्भव नहीं। वाक्यों के शब्द कोमल, परुष ध्वनि और लययुक्त हो सकते हैं, जिनके द्वारा रसानुभूति में सहायता मिलती है, किंतु वाक्य को रसात्मक कहने का तात्पर्य मात्र इतना है कि उस कथन विशेष में रसोद्रेक करने और रसानुभूति और रस-बोध कराने की शक्ति है। इस शक्ति से मेरा अर्थ है कि उनमें रसानुकूल संकेत है जिनके द्वारा पाठक के वासना-रूप स्थित मनोविकार जाग्रत हो उठते हैं। इस प्रकार काव्य में रस नहीं, बल्कि रसोद्रेक की शक्ति है।

भरतसूत्र 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' के व्याख्याता भट्ट लोल्लट के 'आरोपवाद,' शंकुक के अनुमानवाद, भट्टनायक के भुक्तिवाद और अभिनव गुप्त तथा मम्मट के व्यक्तिवाद की मीमांसा न कर मैं इस प्रश्न पर आना चाहता हूँ कि रस-बोध वास्तव में किसे होता है? रस-सिद्धांत नाट्य-शास्त्र का विषय था; अतः तीन इसके विषय हैं—पात्र (दुष्यंत, राम आदि), नट (अभिनेता) और सामाजिक।

रस की स्थिति पात्र में नहीं होती। मैंने अन्यत्र लिखा है कि मनोविकार की तीव्रावस्था में काव्य का जन्म नहीं हो सकता। मनोविकार जब तक कल्पना एवं स्मरण-शक्ति द्वारा पुनः जाग्रत हो अभिव्यक्त नहीं होते तब तक वे काव्य नहीं कहला पाते; [गहरी अनुभूति के वे क्षण काव्य की सीमाओं में घिर नहीं पाते, घेरे नहीं जा सकते। मम्मट ने स्वीकार किया है कि 'रस का प्राण एकमात्र चर्वणा ही है,' इस चर्वणा का हो वर्ड्सवर्थ का 'Spontaneous over-flow of powerful feelings...recollected in tranquillity' समझना चाहिये। पात्र में 'चर्वण' संभव नहीं; कारण अनुभूति की तीव्रतम अवस्था में इतना अवकाश कहाँ? अभिनेता अभिनय करते समय रसानुभूति एवं आनन्दानुभूति पर ध्यान नहीं रख सकता। अतः इतना स्पष्ट है कि रस-बोध पात्र और अभिनेता में नहीं होता। अभिनव गुप्त ने लिखा है कि रस को कार्य और विभावादि को उसका हेतु नहीं कहा जा सकता। रस-बोध वास्तव में पाठक अथवा सामाजिक को ही संभव है। क्या कवि को रस-बोध होता है? कवि जिस समय कविता करने में संलग्न है, उस

समय रसानुभूति पूर्ण मात्रा में संभव नहीं; कारण कल्पना अथवा स्मरण के द्वारा रागात्मक आवेश की तीव्रता की अपेक्षा रहती है। उस मनोवैज्ञानिक क्षण में सर्जन का आनन्द उसे होता है; चर्वणा की मात्रा के अनुरूप स्वल्पाधिक रस-बोध भी उसमें होता है, किन्तु उसका पूर्णता रचना करने के बाद उसके पुनः-पाठ में है। कारण 'चर्वणा' अपने सक्षम रूप से तभी संभव है। कवि का, काव्य-रचना के समय विभिन्न व्यक्तित्व है, यह कथन भ्रामक है। समग्र चैतन्य काव्य-रचना में संलग्न रहने के कारण उन परिस्थितियों की उपेक्षा अवश्य हो जाती है जो बरबस ध्यान आकृष्ट कर लेती हैं। काव्य-रचना के समय और पाठक के रूप में पढ़ने से कवि में जो रस-बोध होता है, उसमें मात्रा का अन्तर अवश्य है।

सौंदर्यानुभूति काव्य का आवश्यक अंग है। क्रोचे ने सौंदर्यजन्य सहज-ज्ञान को राग-द्वेषजनित सहज ज्ञान से भिन्न माना है। यह प्रश्न दूसरा है कि सौंदर्यजन्य सहज ज्ञान क्या आनन्द की अनुभूति उत्पन्न नहीं करता? सौंदर्यानुभूति और आनन्दानुभूति भिन्न हैं; आनन्दानुभूति मात्र सौंदर्यजन्य सहज-ज्ञान पर अवलम्बित नहीं। उसके और अनेक उपादान हैं। क्या सौंदर्यानुभूति-जनित आनन्द अन्य प्रकार से प्राप्त आनन्द से भिन्न है? आनन्द अवस्था-विशेष का नाम है, द्वेष का अभाव उस अवस्था को सूचित नहीं कर सकता। उस स्थिति-विशेष में आनन्द के प्रकार की कल्पना नहीं की जा सकती, उसकी मात्रा में अन्तर चाहे स्वीकार करना पड़े। कला अथवा काव्य के मूल्याङ्कन में सामाजिक संस्कार और दृष्टिकोण का अन्यतम स्थान है; क्योंकि मूल्य वस्तुगत नहीं अपितु आत्मनिष्ठ है और उसकी उपादेयता आत्मनिष्ठ-भावना को संतुष्ट करने में है। सौंदर्यानुभूति के संबंध में भी यह कथन उपयुक्त है। बाह्य सौंदर्य का काव्य-गत इतना ही मूल्य है कि कवि की सौंदर्य-भावना को जाग्रत करने की क्षमता उस वस्तु में है। वस्तुनिष्ठ सौंदर्य की कल्पना ऐसी अवस्था में ग्राह्य नहीं। सौंदर्य का वर्णन सुन्दरतापूर्ण हो यह आवश्यक नहीं; सौंदर्य का कुत्सित वर्णन ढूँढ़ने के लिए अधिक प्रयास की आवश्यकता शायद नहीं पड़ेगी। सौंदर्य-भावना पर काल और देश का प्रभाव है, यद्यपि वैयक्तिक तत्त्व का अभाव उसमें नहीं। रीति-कालीन नायिकाओं का सौंदर्य बीसवीं शताब्दी का आकृष्ट नहीं कर सकता। काव्य का सौंदर्य शब्द-चयन, छंद, गीतिमत्ता, लय और मूर्त्त-भावना में है। काव्य में सौंदर्य का अर्थ यह नहीं कि उसमें सुन्दर कही जानेवाली वस्तुओं का वर्णन हो, क्योंकि उपादान के निमित्त कुछ सुन्दर अथवा असुन्दर नहीं, सुन्दरता उसके विधान में है।

कविता क्या अभिव्यञ्जना मात्र है ? क्रोचे के अनुसार अभिव्यञ्जना मात्र काव्य है। भारत में ऐसे सिद्धांतवादियों का अभाव न था जो 'वक्रोक्ति' को* —अलंकार मात्र नहीं—काव्य को आत्मा मानते रहे। यह सिद्धांत सौंदर्य के रूप-विधानवाले सिद्धांत पर आश्रित है।

कविता मनुष्य की रागात्मक अभिव्यक्ति है, सौंदर्यानुभूति-निरपेक्ष नहीं, वह भी आनन्दानुभूति के आश्रित है; अतः काव्य का सौंदर्य केवल अभिव्यक्ति पर अवलम्बित नहीं, उसका आधार रागात्मक आवेश भी है। अभिव्यञ्जना की महत्ता हमें उसी सीमा तक स्वीकार करनी पड़ेगी जहाँ तक वह भावनाओं के प्रत्यक्षीकरण में समर्थ होती है। चित्रकार तूलिका, रंग और पट के आधार पर भावनाओं को मूर्त्तता प्रदान करता है। अपनी भावना को प्रत्यक्ष कराने के लिए उसे किसी माध्यम की आवश्यकता है, उसी प्रकार मूर्त्तिकार और संगीतज्ञ को भी। कवि के लिए माध्यम है भाषा। अभिव्यञ्जना का अपना अलग सौंदर्य हम स्वीकार चाहे कर लें, पर इतना मानना पड़ेगा कि उसकी अपेक्षा भावनाओं को मूर्त्तता देने के निमित्त है। छंद, लय तालैक्य और तारतम्य की अपेक्षा इसीलिए है कि काव्य की भावना को क्षमता मिले। केवल इनके आनन्द के लिए कविता का उपयोग नहीं होता, ऐसी कविता का शब्द-सौंदर्य चाहे पाठक को अभिभूत कर ले, किन्तु काव्यत्व का आनन्द नहीं देता। शब्द-शक्ति अभिव्यञ्जना-भावना को क्षमता दे सके इसी में उसकी परिणति और यही उसका उद्देश्य है। अभिव्यञ्जना को अधिक महत्त्व देने का अर्थ काव्यत्व को अधिकाधिक स्थूल आधार से संबद्ध करना है।

कविता में कल्पना की अपेक्षा स्वीकृत है। कल्पना और स्मरण के द्वारा कवि उस अवस्था में पहुँचता है जिसमें मूल रूप से उसे अनुभूति हुई थी। रस-विवेचन के समय यह हमने देखा है कि चर्वणा के लिए उस अवस्था की अपेक्षा है जिसमें मनोवृत्तियों को तीव्रता अपनी चरमावस्था में न हो। कवि उस समय उस अनुभूति का प्रत्यक्षी-कारण चाहता है जिस समय उसकी सीमाओं से वह घिरा नहीं है, यह प्रत्यक्षी-करण, यह मूर्त्त-विधान कल्पना के द्वारा ही संभव है। कल्पना के द्वारा भाव-सृष्टि नहीं हो सकती, जिसने कभी प्रेम नहीं किया है, प्रेम का स्वाँग वह भले करे, उसमें वैसी अनुभूति कल्पना के द्वारा नहीं हो सकती। संस्काररूप से वासना के स्थित रहने का अभिप्राय यह है

---

*लोकोत्तरचमत्कारकारि वैचित्र्य सिद्धये।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगी भणितिरुच्यते—कुन्तक॥

कि वृत्तियाँ सुप्त रहती हैं और उपयुक्त परिस्थितियों में उद्बुद्ध होने की शक्ति उनमें है। क्या कल्पना द्वारा वैसी परिस्थिति उत्पन्न की जा सकती है जिसमें वे वृत्तियाँ जाग्रत हो उठें ? यदि वैसी वृत्तियाँ कभी जाग्रत नहीं हुई हैं, केवल उन्हें कल्पना के द्वारा जागरित नहीं किया जा सकता। कल्पना द्वारा आलंबन का परिवर्तन अथवा उन्नयन (transference and sublimation) संभव है। वासना-जनित प्रेम उन्नयन की प्रक्रिया से आध्यात्मिक प्रेम में परिवर्तित हो सकता है अथवा शिशु का मातृ-आकर्षण किसी दूसरे व्यक्ति के लिए संभव है; किंतु कल्पना के द्वारा आकर्षण उत्पन्न नहीं किया जा सकता। इस प्रकार रागात्मक आवेश की स्थिति में पहुँचाने और उनमें तीव्रता लाने, आलंबन-परिवर्तन एवं उन्नयन के लिए कल्पना की अपेक्षा है। अतिकल्पना जो आकाशवेलि की भाँति निराधार है, कविता को पहेली बनाती है।

कविता की भावुकता-प्रियता ने विचार को अपने लोक से बहिष्कृत-सा कर रखा है। कवि कहता है—कविता तर्क नहीं और उसे भावुकता की कसौटी पर ही कसना उपयुक्त होगा। यह निश्चित है कि कविता तर्क-शास्त्र नहीं और तर्क-शास्त्रीय पद्धति से उसका विवेचन नहीं किया जा सकता है; किंतु इसके साथ यह भी निश्चित है कि कविता पागल का प्रलाप नहीं है। बुद्धितत्त्व का तिरस्कार कर कविता पागलपन के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह जाती। कवि, प्रेमी और पागल की भावनाओं में * साम्य पाते हुए भी कोई कवि अपने को पागल कहा जाना स्वीकार नहीं करेगा। जिस प्रकार रागात्मक आवेश द्वारा जाग्रत भावुकता में कल्पना के द्वारा तीव्रता आती है, उसी प्रकार बुद्धितत्त्व के द्वारा उसे पुष्टता एवं उत्तेजन-शीलता प्राप्त होती है। विचार के अभाव में जिस प्रकार कविता में अक्षमता आती है, उसी प्रकार बौद्धिकता के प्रबल आग्रह के कारण उसके स्वाभाविक प्रवाह में गतिरोध उत्पन्न होता है। बुद्धितत्त्व के अभाव में कविता में अस्पष्टता, दुर्बोधता आती है दूसरी ओर कविता में अभिव्यक्त एक विचार दूसरे विचार को अथवा क्रमागत अन्य विचारों को जन्म दे रसानुभूति में बाधा उपस्थित कर सकता है। कविता में वस्तुतः विचार रागात्मक उत्तेजना के सहायक रूप में आता है। कविता वह पूर्ण इकाई है जिसमें अंगविशेष का अस्वाभाविक वार्धक्य सौंदर्य-हीनता का सूचक होता है।

---

* The lover, the poet and the lunatic
Are imagination all compact. —*Shakespear*

मनुष्यत्व का तत्त्व सिखाता
निश्चय हमको गांधीवाद,
सामूहिक जीवन विकास की
साम्य योजना है अविवाद।—पन्त

विचारों का इतना दुर्वह भार कविता वहन नहीं कर सकती, उसमें भावना, कल्पना और बौद्धिकता का सम्यक् संतुलन अपेक्षित है।

कविता और नैतिकता के सम्बन्ध में कम भ्रम नहीं फैला है। कलावादी कला का नैतिक आधार स्वीकार नहीं करता। फिर क्या कला अनैतिक है? नैतिकता अथवा अनैतिकता के इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है। प्रचार और कला में मात्रा का अन्तर है। विचार की अत्यधिक स्पष्टता प्रचार (Propaganda) है और उसका संकेतमात्र कला। कवि की अपनी भावनाएँ हैं, अपने विचार हैं। हमने यह भी देखा है कि मनुष्य अपनी भावनाओं, अनुभूतियों एवं विचारों में जीवित रहता है, ऐसी अवस्था में यह संभव नहीं कि कविता, जो उसकी आत्माभिव्यक्ति है, उसके विचारों से शून्य रहे। फलस्वरूप समाज, व्यक्ति और उनके सम्बन्ध के विचार उसकी कविता में अवश्य आवेंगे। नैतिक सिद्धांतों के प्रचार के लिए यदि उसकी रचना है, हम उसे काव्य न कह सकेंगे, किंतु इसके साथ यह भी निर्विवाद है कि कविता अनैतिकता का प्रसार नहीं कर सकती। अनैतिकता की अभिव्यञ्जना के द्वारा नैतिकता के लिए आग्रह उत्पन्न हो सकता है। नग्नता में अनैतिकता की प्रवृत्ति हो सकती है और मनुष्य के विश्वासों में नैतिकता का आग्रह। अतः, काव्य में नैतिकता का आग्रह अवश्य होगा; किंतु नैतिक सिद्धान्तवादिता कविता की कसौटी नहीं हो सकती। कविता की अपनी भी नैतिकता है, जिसकी कसौटी है भावना के प्रति सचाई। कलाकार यदि अपनी भावना एवं रागात्मक आवेश में सच्चा नहीं है, उसकी रचना में कोई शक्ति नहीं होगी। कविता मुख्यतः और साहित्य सामान्यतया मनोवृत्तियों का परिष्कार करते हैं। कविता की नैतिकता का संबंध मानवीय भावनाओं के संतुलन, परिष्कार और उन्नयन से है।

कविता जीवन की प्रतिकृति नहीं, मात्र चित्रण भी नहीं, बल्कि संवेदनशील अभिव्यक्ति है। कवि अनुभूति को मात्र अपनी न रखकर सबकी बनाता है, ऐसी बात नहीं कि वह चेतनरूप से इस विचार का पोषक है अथवा इसी उद्देश्य को समक्ष रखकर रचना करता है। प्रयासकृत उद्देश्य-रक्षा में वह तीव्रता, वह गंभीरता संभव नहीं। जीवन की प्रतिकृति के रूप में इसे स्वीकार

करने का अर्थ है कि कविता की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं और जीवन के लिए कोई जाग्रत संदेश वह उपस्थित नहीं कर सकती। सामाजिक और वैयक्तिक जीवन की क्रिया-प्रतिक्रिया की छाप कविता पर रहती है; किन्तु इसे किसी प्रकार अनुकरण नहीं माना जा सकता। कविता में संकेतों के द्वारा अर्थाभिव्यक्ति होती है, जिससे रस-बोध होता है। चित्र-मत्ता का अर्थ होगा उसके सम्पूर्ण अवयवों का सम्यक् चित्र उपस्थित करना। कविता की वास्तविकता और सत्य तथा तथ्यगत वस्तु-स्थिति में अन्तर है। कविता संभवनीयता के क्षेत्र में विचरण करती है। वस्तु जगत् एवं भाव-जगत् के कारण उत्पन्न मानसिक प्रतिक्रियाओं के भावात्मक चित्र वह पाठक के सम्मुख उपस्थित करती है। ऐसी अवस्था में चित्रों में प्रेषणीयता एवं संवेदनशीलता की आवश्यकता होगी। अभिव्यक्त अनुभूति में साधारणीकरण द्वारा संवेदनशीलता आती है, जिसके कारण अनुभूति और भावना व्यक्ति-विशेष की न रहकर सम्पूर्ण मानव-समाज की, और निर्दिष्ट काल की न होकर त्रिकाल के लिए हो जाती है। सभी देश, काल और पात्र की सीमाओं में बद्ध हैं, कविता भावना और अनुभूति को देश-काल-पात्र की व्याप्ति से मुक्त करने का प्रयास करती है। युग-सत्य की दुहाई देनेवाले भूल जाते हैं कि तीव्रता की मात्रा में अन्तर होने पर भी भावना के रूप में अन्तर नहीं आता। आलम्बन बदल देने से ही अनुभूति मे विभिन्नता नहीं होती। कविता परिवर्तित युग के आलम्बन ग्रहण कर मानवीय भावनाओं को अभिव्यक्त करता है। कविता का मूल्य मानवता के इसी रागात्मक मापदण्ड द्वारा निर्धारित है।

कवि की मानसिक प्रतिक्रियाओं के ज्ञान के लिए हमारे पास उसकी अभिव्यक्ति के अतिरिक्त और कोई दूसरा साधन नहीं, कवि ने जिस तीव्रता के साथ अनुभव किया है, वैसी तीव्रता अभिव्यक्ति के समय नहीं रहती; वह कल्पना-मिश्रित तीव्रता और गंभीरता भी पूर्णतया अभिव्यक्त नहीं हो सकती। अभिव्यक्ति उनका संकेत मात्र करती है। इस प्रकार हमने देखा कि अभिव्यक्त भावना और अनुभूत भावना में बड़ा अन्तर हो जाता है, अन्तर का कारण माध्यम की केवल अक्षमता ही नहीं वरन् कवि की अवैयक्तिकता भी है। इसीलिए भारतीय साहित्य-शास्त्रियों ने 'रस' को व्यंग्यार्थ का फल अतः प्रतीयमान माना है। कविता को अतः, संकेतात्मक और संवेदनशील होना चाहिए। कविता को मैथ्यू आर्नल्ड ने जीवन की आलोचना (Criticism of life) कहा है। यह सत्य है कि कवि जीवन-जगत्-संबधी भावनाओं एवं विचारों को वाणी देता है; यह भी सत्य है कि मुखरित करने के उन क्षणों में

प्रचलित विचारों पर विचार भी करता है। आलोचन और सर्जन विभिन्न प्रकार की मानसिक क्रियाएँ है; अतः आलोचक कवि अथवा कलाकार नहीं हो सकता, इस प्रकार का भ्रम फैलाया जाता रहा है; किंतु वास्तविकता ऐसी नहीं। कोई कलाकार आलोचना-शक्ति के अभाव में महान् कलाकार नहीं हो सकता और कोई आलोचक कलात्मक सहज ज्ञान के अभाव में सफल आलोचक नहीं हो सकता। कलाकार आलोचक है और आलोचक कलाकार। वाल्मीकि हों अथवा कालिदास, सूर हों अथवा तुलसी, सभी ने अपने समक्ष विकीर्ण जीवन की आलोचना कला के माध्यम से की है। किंतु यहीं उनका कार्य समाप्त नहीं हो जाता, वे आगे बढ़कर जीवन संतुलित करने के लिए एक दर्शन उपस्थित करते हैं। कविता इस प्रकार जीवन की आलोचना-मात्र न होकर जीवन का संतुलन है, उसका दर्शन है।

मानव-प्रयास के मूल में सत्य, शिव और सुन्दर (भले यह उपनिषद् वाक्य नहीं) का अन्वेषण है और 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' के मूल में आनन्दानुभूति है। दुरुपयोग के कारण आनंद शब्द के प्रयोग में कवि हिचकता आया है।

कविता पढ़ने में पाठक को आनन्द आता है। आनंद इतना वैयक्तिक और भावात्मक है कि इसकी व्याख्या संभव नहीं। 'मुग्धबोध' के सूत्रों से अधिक सरसता श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर को मानव-कंकाल की हड्डियों में दीख पड़ी। सौंदर्य साधन है, सत्य आधार है और शिव उद्देश्य है कवि का। कविता का आनंद अतः ऐन्द्रिय, बौद्धिक और आध्यात्मिक है। रूप और मूर्त्त-विधान के द्वारा ऐन्द्रिय आनंद की, विचारोत्तेजना के कारण सत्य के आग्रह से बुद्धि-जनित आनंद को और काव्य की सम्पूर्णता एवं अन्विति द्वारा आध्यात्मिक (उपयुक्त शब्द के अभाव में इसी शब्द का प्रयोग करना पड़ता है) आनंद की उपलब्धि है। कविता के द्वारा यदि इन साधनों से प्राप्त आनन्द में अन्विति न हो सकी, कवि का प्रयास व्यर्थ समझना चाहिए।

कविता में इस प्रकार हमने देखा कि अनुभूति, कल्पना और बौद्धिकता का सम्यक् संतुलन होना चाहिए। कविता संकेतात्मक और संवेदनशील होती है। जीवन की आलोचना एवं चित्रण के साथ ही इसमें जीवन-दर्शन भी अपेक्षित है। इसी दृष्टि-कोण से आधुनिक हिंदी-कविता के विवेचन और अध्ययन का प्रयास किया जाना चाहिए।

[पारिजात : जुलाई, १९४६]

आधुनिक हिन्दी कविता

काव्य कला है और कला कृत्रिम। कृत्रिमता की जिस सीमा पर स्वयं कृत्रिम प्राकृतिक रूप ग्रहण कर लेता है, उसे कला की संज्ञा मिलती है। मानव की अंतर्वृत्ति जब केवल अन्तर का विषय न रहकर वाह्य लोक में प्रवेश करती है, तब कला का जन्म—यदि इसे जन्म कहा जा सके तो—होता है। आवश्यकता की आधार-भित्ति छोड़ मानव जब सौंदर्य का आधार लेता है, कला अपना निवास स्थान बनाती है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय—मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया जाय तो उपयोगिता की सीमा कला को घेरती मालूम पड़ती है, किंतु किसी स्थूल अर्थ में नहीं। कला की उपयोगिता के संबंध से इसी कारण अनेक वादों के विवाद उठ खड़े हुए हैं। 'कला कला के लिए' (Art for arts, sake) सिद्धांत के समर्थकों का विरोध इसलिए नहीं होना चाहिए कि वे काव्य को साधन न बनाकर साध्य बनाते हैं। कला यहाँ स्वार्थिनी नहीं, स्वयं अपने लिए साध्य है, अतः कला का—विशेषतया यहाँ प्रयोजन काव्य-कला से है—विवेचन असंगत नहीं होगा। कला अभिव्यक्ति है। मनुष्य अपनी भावनाओं का प्रकाश चाहता है, वह उन्हें व्यक्त करना चाहता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अभिव्यक्ति साध्य है और अभिव्यंजना साधन। विभिन्न माध्यमों के द्वारा विभिन्न कलाकार अपनी भावना को—अपने आपको कहना अधिक उपयुक्त होगा—अभिव्यक्त करते हैं। चित्रकार तूलिका और रंग ग्रहण करता है, मूर्तिकार प्रस्तर-खंड और कवि भाषा का माध्यम ग्रहण करता है, अतः यहाँ स्पष्ट हो जाता है कि भाषा भाव की अभिव्यक्ति का माध्यम है। भाव जगत का अक्षय कोष ही साहित्य का विषय है। कवि के मानस में भावनाएँ उठती हैं, वह उन्हें व्यक्त करना चाहता है, उन्हें प्रकाशित करना चाहता है।

व्यक्तीकरण संकेतों द्वारा होता है, क्योंकि भाव को भाषा का माध्यम स्वीकार करने पर उसे माध्यम की क्षमता के अनुसार अपने को बदलना पड़ता है। इन संकेतों द्वारा वह अपने भावों को पाठक या श्रोता में प्रेषित करने की चेष्टा करता है। इस प्रकार व्यक्तीकरण, संकेत और प्रेषणीयता, काव्य में तीन मुख्य वस्तुएँ हैं। कवि की सफलता इन्हीं वस्तुओं के उचित समन्वय पर निर्भर करती है। कवि असफल इसलिए नहीं कहा जा सकता कि उसने समालोचक या पाठक के मनोनुकूल भावना प्रदर्शित नहीं की, बल्कि कवि की असफलता इसमें होगी कि उसका जो संदेश है, उसे वह व्यक्त कर पाठक में अपने मानस की भावना के अनुकूल चित्र चित्रित नहीं कर सका। कवि की कविता समझने के लिए, अतः उसकी भावना-राशि के संचित कोष, उसके माध्यम की उपयुक्तता, उसके संस्कार और उसके संकेतों का ज्ञान आवश्यक होता है।

भावना और भाव का उद्गम मानस है; मैं यहाँ 'मानस' शब्द का प्रयोग जान-बूझकर कर रहा हूँ। प्राचीन काल से ही 'हृदय की वृत्ति' समालोचकों, कवियों और उनके प्रशंसकों के मुँह से सुनी जाती है। मनोविज्ञान और शरीर-शास्त्र के विद्यार्थी को यह पूर्णतः विदित है कि हृदय और अनुभूति (Feeling) में किसी प्रकार का संबंध नहीं। हृदय रक्त-प्रवाहिनी धमनियों का केंद्र है और शरीर में रक्त-संचालन क्रिया का वही आधार है। अनुभूति, कल्पना, चिंतन, मानस की क्रियाएँ हैं—हृदय से इनका कोई प्रत्यक्ष या परोक्ष संबंध नहीं, अतः 'हृदय' शब्द के प्रेमी कवि और समालोचक इसके बहिष्कार पर मुझे कोप-भाजन न बनाएँगे। भावना मनुष्य की है, अतः इसका विचार करते समय मनुष्य को इसकी प्रत्येक भूमिका में देखना पड़ेगा। मनुष्य व्यष्टि है और समष्टि का अंग भी। अतः व्यक्ति और समाज की समस्या उपस्थित है। समाजवाद के पोषक समाज में व्यक्ति के महत्त्व का लोप चाहते हैं। सामाजिक भावना में व्यक्ति का जो स्थान हो, साहित्य में उसकी इकाई स्वीकृत है, स्वीकार करनी पड़ती है। अतः कवि केवल सामाजिक भावनाओं का प्रतीक ही नहीं, बल्कि व्यक्तिगत भावना का भी निर्देशक है। कुछ अवस्थाओं में यह संभव है कि सामाजिक और व्यक्तिगत भावनाएँ एकरूप हो जायँ और समालोचक दोनों के मध्य विभाजक रेखा न खींच पाए। व्यक्तिगत और सामाजिक भावना की विभिन्नता के कारण एक काल के ही दो कलाकारों की कृतियाँ प्रत्यक्ष रूप में भिन्न रहती हैं। सामाजिक भावना का पोषक कवि भी व्यक्ति है और उसकी

कविता व्यक्ति, के माध्यम से होकर आने के कारण व्यक्तिगत भावना का आंशिक स्वरूप ग्रहण कर लेती है। प्रगतिशीलता के अंध-भक्त अधिकांशतः भूल जाते हैं कि व्यष्टि (कवि) के माध्यम से समष्टि (समाज) अपनी भावना व्यक्त करता है, अतः उनके मनोनुकूल कविता न लिखकर कवि वास्तविक अर्थ में युग-धर्म की अवहेलना नहीं करता। प्रगति का अर्थ आगे बढ़ना है, अतः प्रगतिशीलता का केवल यह अर्थ नहीं कि मार्क्स और गाँधी पर कविताएँ लिखी जायँ, बल्कि यह होना चाहिए कि कवि अपने व्यक्तिकरण के साधन, संकेत और प्रेषणीयता में प्रगतिशील है। मैं व्यक्तिगत रूप में तत्कथित समाजवादी कवियों की अनेक कविताओं को—यदि उनमें से अधिकांश को कविता कह सकें—प्रतिगामी मानता हूँ; कारण उनमें उपर्युक्त रूप में प्रगतिशीलता का अभाव है। इसके अतिरिक्त कवि का दृष्टिकोण है, वह किस दृष्टिकोण से कविता के विषय को देखता है—यदि उसका दृष्टिकोण समझा जा सके। बिना उसका दृष्टिकोण समझे उसकी कविता की आलोचना की जाय, तो वह केवल असह्य ही नहीं बल्कि अक्षम्य अपराध है। दृष्टिकोण के कारण भावना का रूप परिवर्तित होता है—उदाहरण देकर स्पष्ट कर दूँ। 'ताजमहल' साधारण व्यक्ति के लिए सुन्दर भवन है, स्थापत्य-कला-विशारद के लिए अनुपम कला-कृति तथा भारतीय और फारसी पद्धतियों का सुन्दर समन्वय है। उपनिषदों की रहस्य भावना में अभिभूत, बौद्धिक संस्कार के उच्च स्तर के निवासी और कल्पना-लोक-विहारी रवीन्द्रनाथ के लिए वह अंतर्वेदना का प्रतीक है। वे गा उठते हैं :—

एक कथा जानिते तुमि, भारत-ईश्वर सा-जहाँन !
काल स्रोते भेसे जाय, जीवन यौवन धन मान।
शुधु तव अंतर वेदना
चिरंतन हए थाके सम्राटेर छिल ए साधना।
राजशक्ति बज्र सुकठिन
संध्या राग सम तंद्रातले हय होक लीन
केवल एकटि दीर्घश्वास
नित्य उच्छ्वसित हए सकरुण करुक आकाश
एइ तव मने छिल आश।

'हे भारतेश्वर शाहजहाँ ! यह बात तुम जानते थे कि कालस्रोत में जीवन, यौवन, धन और सम्मान सभी बह जाते हैं। केवल तुम्हारी अंतर्वेदना चिरंतन होकर रहे, सम्राट् ! तुम्हारी यही साधना थी। वज्रवत् सुकठिन

राजशक्ति संध्या की लालिमा की नाईं तंद्रातल में यदि विलीन हो तो हो, पर केवल एक दीर्घ निश्वास नित्य उच्छ्वसित होकर आकाश को सकरुण करे, यही तुम्हारे मन की आशा थी।'

परिवर्त्तित दृष्टिकोण के कारण 'पंत' जी इसी ताज को जीवन के प्रति मानवता के विराग का प्रतीक मानते हैं :—

हाय, मृत्यु का ऐसा अमर अपार्थिव पूजन ?
जब विषण्ण, निर्जीव पड़ा हो जग का जीवन
संग सौध में हो शृंगार मरण का शोभन,
नग्न, क्षुधातुर वास-विहीन रहें जीवित जन !
मानव ! ऐसी भी विरक्ति क्या जीवन के प्रति ?
आत्मा का अपमान, प्रेत औ छाया से रति !!

दृष्टिकोण के अंतर में व्यक्ति और समाज की भावना है, जिसके संबंध का विवेचन ऊपर किया गया है।

कवि की भावना के मूल में राग है। [illegible] वृत्ति आघात पाने पर प्रकट हो जाती है। क्रोध, प्रेम, घृणा, ईर्ष्या, द्वेष, करुणा आदि राग हैं। उपयुक्त आघात पाने पर वे व्यक्त होते हैं। सौंदर्य से मनुष्य प्रेम करता है है, दुष्टता पर उसे क्रोध आता है, कुत्सित से घृणा होती है। आघात यदि शक्तिशाली न हो तो उसकी अभिव्यक्ति भी आवेगपूर्ण न होगी, अतः सफल अभिव्यक्ति के लिए आवश्यक है कि राग का सबल आवेश हो, जिसमें कवि की कल्पना उचित अवसर प्राप्त कर उसे और बलवती बना दे। उपर्युक्त आवेश के साथ आवश्यकता है कि कवि अपने माध्यम को संकेतमत्ता और शक्ति से परिचित हो और उनका सफल प्रयोग कर सके। ऐसी अवस्था में ही कवि अपनी भावना पाठक अथवा श्रोता के मानस तक अविकल रूप में पहुँचाने में सफल हो सकता है। समाज की प्रारम्भिक अवस्था में राग की प्रधानता थी, मनुष्य का जीवन रागों का तिरस्कार न कर सका था। क्रोध आया, तलवार फैसला करने के लिए उपस्थित थी। प्रेम हुआ, बलपूर्वक अपनाया; विरोध के निवारे के लिए वही तलवार रही। इस प्रकार साधारण आघात होने पर भी संवेदनशील मानस में रागात्मक प्रतिक्रिया उत्पन्न होती थी, अतः प्राचीनकाल का सामाजिक जीवन काव्यमय दृष्टिगत होता है। समय के परिवर्त्तन के साथ-ही-साथ रागात्मिका वृत्ति पर पूर्ण आघात करनेवाले उपकरणों में नवीनता आती गई। गुलाब का फूल मन खिलाने के बदले आज केवल ड्राइङ्ग रूम का शृंगार-मात्र रह गया है। इस

प्रकार राग पर बौद्धिकता का आधिपत्य होता गया। भावना क्रमशः रागात्मिका से बौद्धिक होती गई। बौद्धिकता चिन्तन का फल है। चिन्तनहीन राग सभ्यता की प्रथमावस्था का परिचायक है और भावनाहीन बौद्धिकता पाखंड। हिन्दी कविता का साधारण पाठक आज कवि की बौद्धिक चिन्तना के कारण कुछ खोया-सा ज्ञात होता है, कारण वह युग-युग से आते मानव के बौद्धिक विकास को समझने में असमर्थ रहा है। वैज्ञानिक अन्वेषण और गवेषणा ने समाज की बद्धमूल भावनाओं पर आघात किया है। आघात सहन न कर समाज तिलमिला उठा और नवीन चिन्तन-प्रणाली का आविर्भाव हुआ। अतः वर्तमान हिन्दी काव्य के रागान्वेषी पाठक को निराश होना पड़ता है, कारण उनमें सामाजिक विकास-क्रम के कारण प्राप्त बौद्धिकता का समावेश भी है। चिन्तन के कारण ही आज का कवि राग को निरपेक्ष नहीं देखता, बल्कि उन्हें आपस में सम्बद्ध भी पाता है। युग की इस चिन्तन-प्रियता को लक्ष्य कर ही 'हाली' ने कहा था :—

शायरी मर चुकी जिन्दः न अब होगी यारो,
याद कर करके इसे जी न कुढ़ाना हरगिज।

सौभाग्य का विषय है, कविता मरी नहीं; मर गई कविता की वह प्राचीन भावना, जिसमें केवल राग का ही राज्य था। हिन्दी का आधुनिक कवि केवल सहज वृत्ति (Impulse) पर ही निर्भर नहीं करता; अपितु चिन्तन का भी आश्रय लेता है।

राग जीवन का रस है, प्रतीक है, चिह्न है। शास्त्रकारों ने रागों के निरा-करण की शिक्षा दी, किन्तु रागहीन व्यक्ति मनुष्य नहीं रह जाता—वह देवत है अथवा निर्जीव। देवत्व की संभावना अत्यल्प होने के कारण उसे दूसरी कोटि में ही रखना उपयुक्त होगा। मध्यकालीन कवियों में रागात्मिका वृत्ति का विरोध पाया जाता है अथवा यह कहा जाय कि उससे यौन सम्बन्धी राग ही प्रकट होता था तो अत्युक्ति नहीं होगी। रागात्मिका वृत्ति के विरोध की प्रतिक्रिया के रूप में रागात्मिका प्रवृत्ति का पुनर्दर्शन प्राप्त हुआ है। राग और अनुभूति यद्यपि दोनों भिन्न हैं, किन्तु दोनों का संबंध अविच्छिन्न है। राग के उपरान्त ही अनुभूति का उद्भव है। यदि कविता अनुभूतिपूर्ण न हुई तो वह कोरा पाखंड है, अतः आज का हिन्दी कवि राग और अनुभूति के प्रति जागरूक है। अंतस्तल को स्पर्श करनेवाले गम्भीर राग का विश्लेषण संभव नहीं और छिछले तथा ऊपरी स्तर को घेरनेवाले राग के विश्लेषण की आवश्यकता नहीं, अतः दोनों के बीचवाले राग का विश्लेषण और व्यक्तीकरण

संभव है। उद्वेगशीलता की गम्भीरावस्था में कविता नहीं बनती। कविता के लिए आवश्यक है कि राग का मानसिक विश्लेषण किया जा सके। विश्लेषण के समय चिन्तन या बौद्धिकता की अनिवार्यता स्वयंसिद्ध है। राग और चिन्तन के समन्वय रूप में ही गीति-काव्य है। राग की उद्रेकावस्था अत्यन्त अल्प-कालीन होती है, अतः उसके अवसान के साथ ही साथ क्रमशः बुद्धि-तत्त्व का समावेश होता जाता है। रागोद्रेक की पूर्णता एवं बुद्धितत्त्व के समुचित विकास के लिए कल्पना का साहाय्य अपेक्षित है, अतः कल्पना राग और चिन्तन की मध्यवर्तिनी होकर आती है। मधु-यामिनी की शांत रुपहली रात में चाँदी की किरणें लहरों से अठखेलियाँ कर रही हैं। ओस के कण दूर्वादल को मोतियों की आभा प्रदान कर रहे हैं। बन-फूल हवा के हिंडोले पर झूम रहे हैं और कवि की कल्पना के सदृश निर्झरिणी बह रही है, अविश्रांत, अनवरुद्ध। कवि की रागात्मिका वृत्ति में क्षोभ उत्पन्न होता है और वह गा उठता है :—

मधु यामिनी अंचल ओट में सोई थी
बालिका जूही उमंग - भरी
विधु-रंजित ओस कणों से भरी
थी बिछी बन-स्वप्न-सी दूब हरी।
मृदु चाँदनी-बीच थी खेल रही,
बन-फूलों से शून्य में इन्द्र-परी
कविता बन शैल महाकवि के
उर से मैं तभी अनजान झरी।

—दिनकर

राग का प्रथम आवेश समाप्त होने के पूर्व ही कल्पना सहायता को आती है :—

हरिणी शिशु ने निज लास दिया
मधु राका ने रूप दिया अपना
कुमुदी ने हँसी, कलियों ने उमंग,
चकोरी ने प्रेम में यों तपना
नभ नील ने जन्म घड़ी ही में नील
समुद्र का भव्य दिया सपना
'पी कहाँ' कह प्रेमी पपीहरे ने;
सिखलाया मुझे पी कहाँ जपना।

राग का कल्पनात्मक आवेश चिन्तन में परिणति प्राप्त करता है—

अभिसारिका मैं मिलने हूँ चली,
प्रिय पंथ रे कोई बताना जरा।

राग की प्राकृतिक गति-विधि से अपरिचित कवि केवल आडम्बर के लिए अपनी कृत्रिम रागात्मिका वृत्ति का परिचय देते हैं। इसके अभ्यन्तर में केवल हीनता के भाव (Inferiority Complex) ही नहीं, बल्कि भावना की असत्यता (Insincerity) भी है। महाराणा प्रताप जिस प्रकार की वीरता का उद्रेक जागरित करते हैं, वैसे समावेश के लिए न तो वर्तमान युग ही उपयुक्त है और न भावना-क्षेत्र। युग-परिवर्तन के साथ-ही-साथ वीरता के भाव में भी परिवर्तन हुआ। इसके तिरस्कार के कारण 'हल्दी घाटी' के रचयिता श्री श्यामनारायण पांडेय के इसी नाम के महाकाव्य में वीर-रस प्रकृत रूप में व्यक्त नहीं हो पाया—

मैं महाकाल, मैं महाकाल,
मैं पी लूँगा, अरि-रक्त काल
ले वीर-रुद्र से मुंडमाल,
मैं कर दूँगा तांडव कराल।

इसके साथ-ही-साथ काजी नजरुल इस्लाम की दो चार पंक्तियाँ आप देखें—

आमि विद्रोही भृगु भगवान बुके आँकि देबो पद-चिह्न,
आम खेयाली विधिर वक्ष करिबो भिन्न—

अथवा—

मेरी पायल झनकार रही तलवारों की झनकारों में
अपनी आगमनी बजा रही मैं आप क्रुद्ध हुंकारों में
मैं अहंकार-सी कड़क ठठा हँसती विद्युत को धारों में
बन काल हुताशन खेल रही पगली मैं फूट पहाड़ों में
अंगड़ाई में भूचाल, साँस में लंका के उनचास पवन—
(विपथगा)

जिस प्रकार प्राकृतिक रूप में सहज भाव से 'दिनकर' के भावों की प्रेषणीयता की योग्यता प्रदर्शित होती है, वैसी पांडेयजी की कविता में नहीं। इसे ही मैं कविता में असत्यता (Insincerity) मानता हूँ।

लगे हाथों काव्य में असत्यता का विचार कर लूँ। कवि की असत्यता के मूल में असंश्लिष्टता—दूरी का भाव है। कवि और अनुभूति में अंतर आ गया है। अनुभूति को अत्यंत समीप की वस्तु वह नहीं पाता, अतः जिस

मात्रा में उसकी कविता के द्वारा भावोद्रेक की संभावना रहती है, उतनी नहीं प्राप्त होती। राग का कार्य है अपनत्व स्थापित करना। व्यक्ति के अपने संबंध से ही राग की उत्पत्ति है; जहाँ उसके निज का प्रत्यक्ष या परोक्ष संबंध नहीं रहता, वहाँ रागोद्रेक की संभावना नहीं रहती है। दूसरों को दुःखी देखकर जो दुःख उत्पन्न होता है, उसमें आंशिक रूप में कल्पना जनित 'स्व' की अनुभूति रहती है और बुद्धि का कार्य है चिंतन और विश्लेषण। जब तक 'स्व' से संबंद्ध भावना है, तब तक उसका सम्यक् विश्लेषण नहीं हो सकता। अत्यंत समीप से देखने पर वस्तु का पूर्ण रूप कभी ज्ञात नहीं होता, अतः राग के विश्लेषण के लिए आवश्यक हो जाता है कि अंतर का आश्रय लिया जाय, कुछ दूर पर रखकर वह वस्तु देखी जाय। काव्य-क्षेत्र में बुद्धितत्त्व के समावेश के साथ यह आवश्यक हो गया कि कवि उसे केवल 'स्व' और 'निज' के संबंध से ही न देखे, बल्कि उसे अपने से कुछ अंतर पर रखकर देखे। इस प्रकार राग की जो बद्धमूल प्राचीन धारणा थी, उसकी पुष्टि न देखकर सशंकित समालोचक असत्यता की दुहाई देने लगते हैं, किंतु इस कथन का यह अर्थ कदापि नहीं कि अनुभूति की तीव्रता और 'वर्ण्य वस्तु' के कारण उद्वेलित रागोद्रेक की किंचित् आवश्यकता नहीं। अंतर उस सीमा तक ही आवश्यक है, जहाँ तक वस्तु स्पष्ट रहे। वह दूरी कभी अपेक्षित नहीं, जहाँ से वस्तु केवल विकृत ही नहीं होती, बल्कि आँखों से ओझल भी हो जाती है।

पंतजी की कविता है :—

इन कीड़ों का भी मनुज बीज,
यह सोच हृदय उठता पसीज
मानव प्रति मानव की विरक्ति
उपजाती मन में क्षोभ खीझ।

प्रगतिशील साहित्य के अंधभक्तों की दृष्टि में यह कविता पूर्णरूपेण समादृत हो, किंतु इससे रसोद्रेक नहीं होता। स्पष्टतः ज्ञात होता है कि कवि मानसिक व्यायाम कर रहा है। पंतजी ने स्वयं स्वीकार किया है कि इन कविताओं में केवल पतित, पीड़ित जनता के लिए बौद्धिक सहानुभूति ही प्राप्त होगी। रागात्मक आवेश से हीन यह केवल नाम मात्र के लिए ही कविता है। वास्तव में यह पंतजी का क्षेत्र नहीं। इस प्रदेश में सहसा अज्ञात स्थान में अपरिचितों के मध्य भूले राही की भाँति पंत जी की अवस्था है।

कल्पना को मैं चाँदनी के रूप में ग्रहण करता हूँ। दिनकर की तप्त किरणों के प्रकाश में वस्तु अपनी तथ्यगत स्थिति में दीख पड़ती है और अन्धकार में

वह दीख नहीं पड़ती। प्रकाश में वस्तु का खुरदरापन, उसकी अशोभनीयता प्रकट हो जाती है और चाँदनी में—उसकी स्निग्ध ज्योत्स्ना में—इतना प्रकाश नहीं रह जाता कि वस्तु की अशोभनीयता, खुरदरापन प्रकट हो जाय और न इतना अन्धकार ही रहता है कि वस्तु दीख ही न पड़े। ज्योत्स्ना की रजतोपम स्निग्धता में वस्तु नवीन रूप, नूतन आकार ग्रहण कर लेती है। कल्पना भावना की अरूपता मिटाकर उसे कलात्मक और सौंदर्यपूर्ण परिधान देती है। चाहे सौंदर्य को हम क्रोचे की भाँति अंतर की एक निश्चित भावना मानें, चाहे इसे वाह्य की शून्यता से आकुल अंतर की ध्वनि मानें—बात एक ही है। कल्पना—मैं यहाँ स्पष्ट कर दूँ—अनुभूति या भावना को जन्म नहीं दे सकती, किंतु अपना सहयोग देकर उन्हें तीव्र बना सकती है, उन्हें उद्दीप्त कर सकती है। अतः वर्तमान हिंदी का कवि कल्पना की शक्ति से पूर्ण लाभ उठाना चाहता है—इससे लाभ उठाता है। पंतजी 'शिशु' नामक कविता में लिखते हैं :—

गीत-से जीवन में लयमान,
भाव जिसके अस्पष्ट अजान;
सुरभि से लाया जिसे विहान
उड़ा लाया हो प्राण;
स्वप्न से निद्रित - सजग समान
सुप्ति में जिसे न अपना ज्ञान;
रश्मि से शुचि रुचिमान
बीचि में पड़ी वितान
स्वीय स्मिति से ही हे अज्ञान!
दिव्यता का निज तुम्हें न ध्यान!

कल्पना का जो रूप पंतजी की उद्धृत पंक्तियों में है कुछ उसी प्रकार की कल्पना 'दाह की कोयल' में है :—

हाँ, जरा-सी याद भूली बात
दूध की धोई उजेली रात
जब किरन - हिंडोर पर सामोद
स्यात् झूली बैठ मेरी गोद

—दिनकर

दो शब्द आदर्श और यथार्थ के सम्बन्ध में भी कह दूँ। आदर्श को हम कल्पना का फल मानते आए हैं—और है भी बात ऐसी ही। सत्य के आधार पर निर्मित कल्पना ही आदर्श का रूप ग्रहण करती है और वास्तव

को वस्तुस्थिति में प्रस्तुत करने को यथार्थवाद की संज्ञा मिली है। किन्तु यथार्थ स्वयं निरपेक्ष नहीं, वह भी सापेक्ष है। कल की कल्पना आज के लिए सत्य है और आज का सत्य कल के लिए कल्पना की वस्तु हो सकता है। इसके अतिरिक्त आज का यथार्थ भी कल्पना की परिधि से बाहर नहीं है। चाहे कविता प्रतीकवादी हो चाहे प्रभाववादी, उसके मूल में कल्पना की धारा प्रवाहित होती है, होती रहेगी।

आधुनिक हिन्दी का कवि मानता है कि कविता बीच-बीच में बिजली की भाँति कौंध उठती है, इस प्रकार लम्बी कविताओं में गद्यात्मक वर्णन का प्राधान्य रहेगा। जिस प्रकार मरुभूमि की शुष्क सैकत-राशि के बीच 'ओयसिस' की शीतलता प्राप्त होती है, उसी प्रकार कविता में बीच-बीच में काव्यत्व और चमत्कार-पूर्ण विचार एवं उक्तियाँ रहेंगी। कभी-कभी तो इस सलिल-राशि को ढूँढ़ने के लिये 'फल्गु' की विस्तृत बालुका-राशि के भीतर पैठना पड़ेगा। उसके विचार में भावनाएँ मूर्त्त रूप में प्रत्यक्ष होती हैं फलस्वरूप एक भाव की मूर्त्ति के मिटते-मिटते दूसरे भावों का मूर्त्तरूप प्रकट हो जाता है। कविता पाठक के लिये उसी प्रकार की है जिस प्रकार आँखों को 'रेटिना' पर पड़ा पल भर का चित्र। यह कुछ क्षणों का कार्य है। चित्र बनते-बिगड़ते रहते हैं, किंतु दृश्यमान जगत् का प्रभाव आँखों के द्वारा मन पर अवश्य पड़ता है। इस प्रकार कविता भाव अथवा भावों का क्रमागत मूर्त-विधान है जो क्षण-विशेष में क्षण विशेष की बौद्धिक एवं रागात्मक चित्रमत्ता को प्रत्यक्ष करती है। कविता की पूर्णता जो उसकी अन्विति में मानी जाती रही है, उसका विरोध इस मत के कारण होता है। रस-सिद्धांत में कविता का जो स्वरूप स्वीकृत है उसमें रसोत्कर्ष के लिए रस-बाधकता का निषेध है। शब्दों की स्थिति मानसिक मूर्त्त विधान में है अतः काव्य में प्रयुक्त शब्द मानसिक मूर्त्तता उपस्थित करते हैं। आधुनिक कविता में शब्द केवल मूर्त्त-विधान ही उपस्थित नहीं करते बल्कि अपने साथ संयुक्त (साहचर्य के नियमों से) भावनाओं और विचारों का संकेत करते हैं, इस प्रकार शब्द का अर्थ ही प्रधान नहीं वरन् सहचर वृत्तियाँ जाग्रत कर सकने की शक्ति की प्रधानता है। प्रश्न यह है कि क्या एक शब्द समान रूप से सबमें सहचर वृत्तियाँ जाग्रत करने की शक्ति रखता है। सहचर वृत्तियों के जाग्रत करने की शक्ति शब्दों में है, इसका अर्थ है कि कुछ वृत्तियाँ जगेंगी अवश्य, किन्तु उनकी समानता और एकता की गारंटी नहीं हो सकती। 'संध्या' शब्द एक साथ ही मिलनेच्छा, वियोगानुभूति, निराशा, अंधकार,

सौंदर्यानुभूति आदि का संकेत उपस्थित करती है। **शब्द की यह शक्ति स्वीकार करने का अर्थ है कि प्रत्येक कविता भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के लिए न्यूनाधिक मात्रा में भिन्न अर्थ रखती है।** प्रसादजी के अनेक गीतों में शब्द-शक्ति के इस रूप का उपयोग हुआ है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आज का कवि अनुभूति की तीव्रता के साथ कल्पना का साहाय्य ग्रहण कर चिन्तन की अभिव्यक्ति करता है। वर्तमान हिन्दी काव्य राग, कल्पना तथा चिंतन का संगम है।

[आरती : अप्रैल, १९४१]

गीति-काव्य की परम्परा

कविता जीवन के अन्तर्दर्शन की रागात्मक अभिव्यक्ति है। मानव-जीवन के प्रारम्भिक युग में अनुभूति की अभिव्यक्ति वाणी के संकोच-प्रसार तथा भंगिमा की भिन्नता में ही शायद निहित रही होगी। पशु-पक्षी तक में अनुभूति और उसकी अभिव्यक्ति की क्षमता है। मनुष्य में जिस प्रकार प्रसन्नता के कारण आत्म-प्रसार का भाव जाग्रत होता है, उसी प्रकार पशु-पक्षी तक में। यहाँ उन मनोवैज्ञानिकों के सिद्धान्तों का विरोध है जिन्हें व्यवहारवादी कहा जाता है और जो मानव की स्थिति को महत्त्वहीन और अनावश्यक समझते हैं। फ्रायड ने पशु-पक्षी की रागात्मक अभिव्यक्ति का अध्ययन और विश्लेषण उपस्थित किया है। मनुष्य निर्जीव, जड़ और नियम परिचालित यन्त्र मात्र नहीं, यद्यपि उसका भौतिक शरीर भौतिक विज्ञान के शास्त्रीय नियमों की अवहेलना नहीं कर सकता। कोपरनिकस ने पृथ्वी की सृष्टि-केन्द्रता अस्वीकृत कर इसका महत्त्व छीन लिया; डारविन ने मनुष्य को मनुष्येतर प्राणियों से सम्बद्ध मानकर सृष्टि-क्रम में इसका दंभ दूर किया और डाक्टर वाटसन ने मनुष्य-जीवन से मानस की महत्ता कम कर दी। मानव-जीवन में, इतना होने पर भी अनुभूति का महत्त्व कम नहीं हो सका। अनुभूति के साथ अभिव्यक्ति का चिर सम्बन्ध है, यद्यपि इनकी कारण-कार्य रूप में स्थिति सभी को स्वीकार नहीं। वाणी के वरदान अथवा अन्य माध्यमों द्वारा मनुष्य ने अपनी अभिव्यक्ति को स्थायित्व देने की चेष्टा की है; किन्तु प्रकृति के विवश प्राणियों को कृत्रिमता के साधन उपलब्ध नहीं। रागात्मक अनुभूति और उसकी अभिव्यक्ति इस प्रकार चेतन जगत का नियम है। आध्यात्मिकता, धार्मिकता एवं दार्शनिकता से आविष्ट सिद्धान्त भी इस जगत् को किसी की अभिव्यक्ति मानते हैं। विज्ञान ने सिद्ध कर दिया है कि उद्भिद्

जगत् में भी रागात्मक अनुभूति है और उसकी अभिव्यक्ति भी होती है। कहा जाता है कि क्रौंच-वध के कारण 'फूट पड़नेवाली क्रौंची की करुण पुकार से ही आदि कवि वाल्मीकि को विगलित करुणा अनुष्टुप के छंदों में उमड़ पड़ी थी।

शास्त्रकारों की पद्धति से इसमें करुण रस मानकर पंत की तरह 'वियोगी होगा पहला कवि' कहकर करुण रस का ही आदि-रस मानें अथवा शृंगार को, किन्तु इतना स्वीकार करना पड़ेगा कि क्रौंची में स्वभावज नैसर्गिक आत्मानुभूति और उसको अभिव्यक्त करने की शक्ति थी और उस अभिव्यक्ति में संवेदन-शीलता भी जो वाल्मीकि का अंतर स्पर्श कर सकी। छन्द, लय, ताल, स्वरैक्य और मेल, तारतम्य और संतुलन की सृष्टि इस स्वाभाविक शक्ति को सीमा में घेर रखने के प्रयास का फलमात्र है। कला की कृत्रिमता उपकरणों के इस सीमा-बन्धन में है। इस प्रकार कला-कविता जिसका एक अंग है—कृत्रिम और मानवीय संतुलन-प्रिय-बुद्धि का फल है। जिस प्रकार भाषा को नियमित करने का प्रयास व्याकरण है, उसी प्रकार सभ्यता, संस्कृति आचार, धर्म, नीति आदि सामूहिक अतः वैयक्तिक चेतना को घेरे में बाँधने के उपक्रम। कृत्रिम कहकर किसी वस्तु की अवहेलना नहीं होनी चाहिए; क्योंकि मानवीय विकास की यही दिशा है। विचार करते समय कविता को भी इसी भूमिका और अनुबन्ध में रखकर देखना आवश्यक हो जाता है। विवश-मानव मन में परिस्थिति और वातावरण के कारण सुख, दुःख, क्रोध, आवेश, घृणा और द्वेष की अनुभूति होती रही है और उनकी अभिव्यक्ति वह उल्लासपूर्ण उत्साह, करुण-चीत्कार अथवा परुष-कठोर वाणी द्वारा करता आया है। इस स्वाभाविक अभिव्यक्ति को कला की संज्ञा नहीं प्राप्त हो सकती। कला अभिव्यक्ति है, किन्तु प्रत्येक अभिव्यक्ति कला-विषय होकर भी कला नहीं, कला के लिए माध्यम की कृत्रिमता आवश्यक अनुबन्ध है। कलाकार की कठिनता सूक्ष्म को स्थूल आधार देने में है जिसकी सफलता उसकी क्षमता है।

प्रारम्भिक काल में अन्तर्दर्शन की प्रवृत्ति नहीं रहती, अन्तर्दर्शन की प्रवृत्ति और क्षमता वैयक्तिक अथवा सामूहिक जीवन में अपेक्षाकृत विलम्ब से आती है। बच्चे का प्रारम्भिक जीवन-काल मानव-जीवन-वृत्त को पुनरावृत्ति करता है, ऐसा मनोवैज्ञानिकों का मत है और यहाँ मानव विकास-क्रम के अध्ययन की सामग्री उपलब्ध हो जाती है। प्रारम्भिक अवस्था में बच्चा वाह्य वस्तुओं की उत्तेजना से प्रभावित होता है और उसे उन वाह्य वस्तुओं का ज्ञान ही पहले होता है। क्रमशः अपने शरीर-व्यक्तित्व और अनुभूति का उसे बोध होता है। भौतिक विज्ञान की चरमोन्नति के पश्चात् मनोविज्ञान का विकास इसके प्रमाण

के रूप में उपस्थित किया जा सकता है। मनोविज्ञान के विकास-काल में मनोवैज्ञानिक वाह्य अभिव्यक्ति से अधिक प्रभावित रहा। मानसिक क्रिया और उसके अचेतन प्रदेश में प्रवेश करने का प्रयास अपेक्षाकृत आधुनिक है। सभ्यता और संस्कृति के प्रारम्भिक युग में इसी प्रकार मानवीय चेतना अपने से वाह्य अलौकिक शक्तियों के प्रतीक अथवा अपने किसी पूर्व-पुरुष की कथाओं के प्रति उन्मुख रही। सामाजिक चेतना के विकास-क्रम में भी देखा जाता है कि प्रारम्भिक अवस्था में चेतना सामूहिक थी। समाज के सुख-दुःख ही व्यक्ति के सुख-दुःख थे। जिसे आज हम वैयक्तिक अनुभूति कहते हैं, उसका विकास पीछे चलकर हुआ। धार्मिक चेतना के सामूहिक रूप का विकास इसी की दूसरी दिशा है। वाल्मीकीय रामायण को आदिकाव्य स्वीकार करने पर भी भारत के नाट्य-शास्त्र का अस्तित्व सूचित करता है कि नाटकों की रचना पहले हुई होगी, अन्यथा उसकी विवेचना की आवश्यकता ही क्यों पड़ती? भरत ने अपने पूर्व के कई शास्त्रकारों का उल्लेख किया है। रूपकों के विकास के मूल में रूपविन्यास है और उन्हीं का कलात्मक विकास रूपक का शास्त्रीय स्वरूप। रूपक में अपरोक्ष अनुभूति का चित्रण है और उसके द्वारा आनन्द सामूहिक रूप में प्राप्त किया जाता है। एकान्त में पढ़कर नाटकों से आनन्द प्राप्त करने की प्रथा का विकास तो नाटकों के अत्यन्त विकसित काल में हुआ। अपरोक्ष अनुभूति के परोक्ष चित्रण के रूप में महाकाव्यों की रचना हुई; यद्यपि उन महाकाव्यों में रूपक तत्त्वों का अधिक से-अधिक आधार लिया गया। महाकाव्य की गति के लिए संघर्ष उतना ही आवश्यक था, जितना नाटकों के लिए। आज जो साहित्यिक नाटक अथवा महाकाव्य मिलते हैं, उनके पूर्वरूप कथा-काव्य के जन-रूप में इनकी रचना के पूर्व प्रचलित रहे होंगे और नाट्यकारों एवं महाकवियों ने उन्हें साहित्यिक रूप मात्र दिया होगा। ऐसा संस्कार केवल एक आदमी के द्वारा नहीं हुआ होगा; बल्कि इसमें अनेकानेक व्यक्तियों की प्रतिभा का अतिव्यय हुआ होगा। वाल्मीकि और व्यास व्यक्ति-विशेष के नाम न होकर साहित्यिक परम्परा के सूचक हैं। कथा के मूल रूप में भी अनेक परिवर्तन हुए होंगे और अनेक व्यक्तियों ने उसे साहित्यिक स्वरूप देने का प्रयास किया होगा। उस साहित्यिक परम्परा का अत्यन्त विकसित रूप ही आज हमारे समक्ष है, अपेक्षाकृत अ-संस्कृत रूप काल-क्रम से लुप्त हो गये, आज मिलते तक नहीं।

सामूहिकता और वाह्यदर्शन के विरोध में वैयक्तिकता और अन्तर्दर्शन की प्रवृत्ति का उद्भव हुआ। महाकाव्यों में इस विकास की लड़ी मिलती है।

महाकाव्यों अथवा नाटकों का इस रूप में अध्ययन करने से मालूम होता है कि किस प्रकार वैयक्तिकता और अन्तर्दर्शन का अधिक आवेश पीछे चलकर हुआ और इस प्रकार कवि की आत्मनिष्ठता (सब्जेक्टिविटी) ने प्रसार पाया। प्रारंभिक युग में भय-श्रद्धा-विस्मय मिश्रित धार्मिक भावना के कारण स्वानुभूति-प्रकाश एवं स्वतंत्र चेतना-शक्ति के विकास-मार्ग में अनेक बाधाएँ उठ खड़ी हुई होंगी। कवियों ने अनेक प्रभावशाली कर्मों का वर्णन किया, उन कर्मों के कर्ताओं की महत्त्व-प्रतिष्ठा के लिए अनेक संभव-असंभव अवस्थाओं और अनुभूतियों को उनके साथ संबद्ध कर दिया, अपने वैयक्तिक सुख-दुःख की गाथाएँ उन चरित्रों के साथ जोड़ दीं और इस प्रकार काव्य की प्रचलित परिपाटी के भीतर आत्मतुष्टि लाभ का प्रयास किया। इस अवस्था में संघर्ष केवल बाह्य न रह आन्तरिक भी हो उठा, जिसके फलस्वरूप नाटक और महाकाव्य के मूल में बाह्य और आन्तरिक दोनों प्रकार के संघर्ष स्वीकृत हुए।

प्रचलित काव्य-परिपाटी के भीतर यत्किंचित् रूप-परिवर्तन द्वारा सामंजस्य उपस्थित कर विरोध प्रकट करने के स्थान में स्वतंत्र रूप में जो विरोध उठ खड़ा हुआ, उसके रूपों के दर्शन आज संभव नहीं, क्योंकि लिपि-बद्ध न होने के कारण लिखित साहित्य की भाँति इनकी रक्षा नहीं हो सकी। किंतु इतना स्पष्ट है कि संगीत की बँधी परिपाटी एवं सामूहिकता-प्रबुद्ध, बाह्यदर्शन और चित्रण-प्रधान काव्य की प्रचलित परम्परा के विरोध-रूप में गीतात्मक वैयक्तिकता-एवं अन्तर्दर्शन-प्रधान गीतों का उद्भव हुआ। महाकाव्यों में इन तत्त्वों के मिश्रण का कारण ऐसे गीतों की गति थी। इस प्रकार प्रारंभिक अनगढ़ और अनेक अंशों में अकृत्रिम गीतों ने महाकाव्यों, आख्यान-काव्यों और नाटकों को नवोन्मेष दिया। नाटकों पर इनका प्रभाव उस समय अधिक नहीं पड़ा, कारण काव्यत्व और संगीतत्व की रक्षा का प्रयास उनमें सदा होता रहा। सामूहिक प्रदर्शन के कारण सहसा उनमें अधिक परिवर्तन की गुञ्जाइश भी न थी।

जिस प्रकार लोक-गाथाओं का साहित्यिक रूप महाकाव्य, खण्ड-काव्य आदि प्रबन्ध-काव्यों में प्रकट हुआ, उसी प्रकार व्यक्तिगत हर्ष-शोक से परिपूर्ण गीतों का साहित्यिक रूप गीतिकाव्य या प्रगीत मुक्तकों में। लोक-गीत ही इन साहित्यिक गीतों और गीतियों के आधार हैं। लोक-गीतों ने अतः, जहाँ महाकाव्यों को वैयक्तिकता एवं अन्तर्दर्शन का आवेश दिया, वहाँ स्वतंत्र गीति-काव्य को उन्मेष। कालक्रम से जनगीतों का ऐतिहासिक अध्ययन

संभव नहीं अन्यथा साहित्यिक परम्परा की तुलना द्वारा इसे स्पष्ट रूप दिया जा सकता। संस्कृत के साहित्य-शास्त्रों में काव्य के दृश्य और श्रव्य दो भेदकर श्रव्य-काव्य को महाकाव्य और खण्डकाव्य के दो भेदों में विभक्त किया गया एवं दूसरे पद्यों से निरपेक्ष छंद-बद्ध रचना को मुक्तक माना गया। मुक्तक और गीतिकाव्य में वस्तुतः बड़ा अन्तर है। नीति, स्तोत्र आदि मुक्तक के अन्तर्गत आते हैं। इस प्रकार संस्कृत-साहित्य में गीति-काव्य नाम का कोई भेद नहीं मिलता। ग्रीकों ने काव्य के दो भेद माने हैं, गीति-काव्य तथा सामूहिक-काव्य। सामूहिक-काव्य गेय था और अनेक लोग वाद्य-यंत्रों के साथ-साथ किसी तीव्र सामूहिक भावना की अभिव्यक्ति करते थे। सामूहिक गेय-काव्य के विपरीत जन्म, मृत्यु, विवाह, बीजारोपण आदि उत्सव-विशेष के अवसर गाये जानेवाले गीतों का उद्भव हुआ और जो लायर नामक वाद्य-यंत्र के सहारे गाये जा सकते थे, उन्हें 'लिरिक' की संज्ञा मिली हैं। अनेक परिवर्तन होने पर भी लिरिक कविता के दो पहलू रह गये हैं, उसकी संगीतात्मकता और आत्मनिष्ठ वैयक्तिक भावना की सम्बद्धता। विधान का सांस्कारिक स्वरूप बदल गया है, छंदाकृति में स्वरूप-विभिन्नता आज देखी जाती है, संगीत की संगति के पूर्ण-निर्वाह की भी आज अपेक्षा नहीं; किंतु लयात्मक विधान से इसे मुक्ति नहीं मिली है। उसी प्रकार आत्म-निष्ठता के स्वरूप-विधान और सांस्कारिक भावना में अन्तर आता रहा है; किंतु गीति-काव्य का यह द्वैत स्वरूप आज भी बना हुआ है। आत्मनिष्ठता के अत्यन्त विकसित काल में अतः, गीति-काव्य को काव्यात्मक काव्य (Poetical poetry) की संज्ञा मिली।

लोक-गीत का भी उद्भव सामूहिक था; किन्तु उसका संसार आत्मनिष्ठ था। अतः उसका सामूहिक रूप में दर्शन पीछे चलकर लुप्त हो गया। सांस्कृतिक चेतना की अपेक्षाकृत प्रारम्भावस्था में उद्भव होने के कारण चित्रमत्ता अधिक थी और प्रेरणा के रूप में किसी स्थूल वस्तु अथवा व्यक्ति का आवेश था। भावनात्मक प्रेरणा द्वारा अन्तर्वृत्ति के जागरण की अवस्था उस काल तक नहीं हो पायी थी; अतः लोक-गीतों में अकृत्रिम अलंकरण और चित्रबहुलता के दर्शन होते हैं। फलस्वरूप उनमें चित्रण अधिक, अभिव्यक्ति कम होती है। कला-गीतों में अनुभूति की अभिव्यक्ति के अनुरूप चित्रमत्ता उपस्थित होती है। स्वरूप की यह भिन्नता होने पर भी दोनों में आत्मनिष्ठ भावना की प्रधानता अपेक्षित है।

संस्कृत साहित्य-शास्त्र में महाकाव्यों के लक्षण कुछ इस प्रकार बने कि गीति-काव्य का प्रवेश उनमें सुगमतापूर्वक नहीं हो सका। गीति-काव्य मात्र संगीतात्मक नहीं। छन्द-व्यवस्था किसी-न-किसी रूप में संगीत का आग्रह लेकर चलती है। पाश्चात्य विचार-धारा में संगीत की जो रूप-रेखा है, उसमें छन्द-व्यवस्था के लिए पूर्ण स्थान नहीं; अतः संगीतात्मकता पाश्चात्य गीति-काव्य के लिए अनिवार्य समझी जाती रही। वाल्मीकीय रामायण गेय है और लव-कुश ने—जैसा कहा जाता है—राम के सामने उसका सस्वर गान किया था। नीति या स्तोत्र पद्यबद्ध होकर भी गीति-काव्य नहीं। कुछ खण्ड-काव्यों में भी गीति-तत्त्व हैं, किंतु उन्हें गीति-काव्य नहीं कहा जा सकता। 'मेघदूत' में कालिदास ने व्यक्तिगत हर्ष-शोक की अभिव्यंजना की है; किंतु इस अभिव्यंजना के मूल में आख्यान-कथा का आग्रह है, इस कारण इसमें हम गीति-काव्य और आख्यान-काव्य के तत्त्वों का सम्मिश्रण पाते हैं। 'मन्दाक्रान्ता' छंद में एक ओर जहाँ विषाद की पूर्ण अभिव्यंजना हुई है, वहाँ उसकी मन्द-मन्थर गति के कारण कथा-प्रवाह में गति नहीं आ सकी। इस मिश्रण में गीतात्मक कथा (लिरिकल बैलेड) का आग्रह अधिक है —

मामाकाश प्रणिहित भुजं निर्दयाश्लेष हेतो-
र्लब्धायास्ते कथमपि मया स्वप्नदर्शनेषु।
पश्यन्तीनां न खलु बहुशो न स्थली देवतानां
मुक्ता स्थूलास्तरु किसलयेष्वश्रुलेशाः पतन्ति॥

[प्रिये! स्वप्न में किसी तरह जब मैं तुझको पा जाता हूँ
शून्य गगन में आलिंगन को तब बाँहें फैलाता हूँ।
वन-देवियाँ दशा यह मेरी देख-देख दुख पाती हैं,
आँसू की मोती-सी बूंदें पत्तों पर बरसाती हैं।*]

भित्वा सद्यः किसलयपुटान्देवदारु द्रुमाणां
ये तत्क्षीर स्रुति सुरभयो दक्षिनेन प्रवृत्ताः।
आलिंग्यन्ते गुणवति मया ते तुषाराद्रिवाताः
पूर्वं स्पृष्टं यदि किल भवेदङ्गमेभिस्तवेति॥

[देवदार की नई कोपलें चिटकाकर जो चली बयार
हिमगिरि से दक्षिण को लेकर उसके रस का सौरभ-सार।

गुणवन्ती ! मैं उसे भेंटता अपने दोनों बाहु पसार,
क्या जाने तेरे अंगों से मिल आई हो यही विचार ॥*]

संक्षिप्येत क्षण इव कथं दीर्घयामा त्रियामा
सर्वावस्था स्वहरपि कथं मन्दमन्दातपं स्यात् ।
इत्थं चेतश्चटुल नयने दुर्लभं प्रार्थनं मे
गाढ़ोष्माभिः कृतमशरणं त्वद्वियोगव्यथाभिः ॥

[ऐसा क्यो न हो कि ये लम्बी रातें पल समान कट जायँ,
और दिवस के ताप पापमय सब प्रकार झटपट घट जायँ ।
मृगनयनी ऐसी अनहोनी के पीछे जल रहा शरीर
तेरी विरह-वेदनाओं ने मेरा मनकर दिया अधीर ।*]

गीत-काव्य के प्रधान तत्त्व संगीतात्मकता और आत्मनिष्ठता—इसमें हैं, किंतु चित्रमत्ता की बहुलता और स्थूल प्रेरणा द्वारा अनुभूति की अभिव्यक्ति के साथ कथात्मक आवेश इसे शुद्ध गीति-काव्य की कोटि से भिन्न करते हैं। मेघदूत गति-काव्य और कथा-गीत के बीच की लड़ी है। जयदेव के गीत-गोविंद के गीतों की परिगणना गीतिकाव्य की कोटि में होती है। गीत और गीति-काव्य में यथेष्ट अन्तर है। गीत में एक ओर जहाँ संगीत का अधिक आग्रह है वहाँ आत्मानुभूति की अभिव्यञ्जना से अधिक वर्णन-प्रियता और चित्रमत्ता का। जयदेव के गीतों के लिए ताल और राग का विधान है यद्यपि शास्त्रीय संगीत की दृष्टि से उनका पूर्ण निर्वाह नहीं हुआ है। गीत-गोविंद की रचना बहुत-कुछ नाटकीय ढंग पर हुई है, यद्यपि पात्रों की संख्या कुल तीन—कृष्ण, राधा और सखी—है। यह गीति-काव्य और गीत-नाट्य के बीच की रचना है, जिसमें गीति-काव्यात्मकता से अधिक गीत-तत्त्व-प्रधानता है। वर्णनात्मक आग्रह जयदेव के अति-प्रसिद्ध गीतों में लक्षित होता है :—

[वसन्तराग]

ललित लवंग लता परिशीलन कोमल मलय समीरे
मधुकरनिकर करम्बित कोकिल कूजित कुञ्ज कुटीरे ।
विहरति हरिरिह सरस वसन्ते नृत्यति
युवतिजनेन समं सखि विरहिजनस्य दुरन्ते ॥ध्रुवम्॥

---

* पं० केशवप्रसाद मिश्र कृत 'मेघदूत' के पद्यानुवाद से

उन्मदमदनमनोरथपथिकवधूजनजनितविलापे ।
अलिकुलसंकुल कुसुमसमूह निराकुल बहुल कलापे ॥
विह···

मृगमदसौरभरभसवंशवद नवदलमालतमाले ।
युवजन हृदय विदारण मनसिज नखरुचि किंसुक जाले ॥
विह···

मदनमहीपति कनकदण्ड रुचिकेशर कुसुम-विकासे ।
मिलितशिलीमुख पाटलपटलकृत स्मरतूण विलासे ॥
विह···

इस गीत में वसन्त-काल का वर्णन है। तिताला वसन्त राग है, मध्य एवं लय नामक छंद भी है। इसमें विप्रलम्भ शृंगार का वर्णन है। इनकी उपस्थिति में भी संगीत के अत्यधिक आग्रह, वैयक्तिकता के अपेक्षाकृत अभाव और स्वरूप-विधान के कारण इसे गीति-काव्य के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। गंगा-लहरी आदि के संबंध में भी यह कथन उपयुक्त है; यद्यपि पण्डितराज जगन्नाथ में गीति-प्रधानता का उन्मेष अवश्य दीख पड़ता है। इस दृष्टि से देखने पर संस्कृत में गीति-काव्य का अभाव-सा है और लोक-गीतों का इनपर प्रभाव पड़ा है; क्योंकि लोक-गीतों की स्थूल-प्रेरणा से भावात्मक होने की प्रेरणा, चित्रमत्ता और वर्णन-प्रियता इनमें लक्षित होती हैं। लोक-गीतों का संगीत-तत्त्व इनमें अधिकाधिक शास्त्रीय अवश्य हो गया है। गीति-काव्य को भूमिका के रूप में इसके विकास-क्रम पर ध्यान देना आवश्यक होगा। प्रारम्भिक कथाओं के आधार पर कथा-काव्यों की रचना हुई; किंतु वैयक्तिक भावना के अनुकूल न होने के कारण लोक-गीतों की परम्परा में साहित्यिक आग्रह द्वारा नये रूप-विधान का जन्म हुआ; जिसका विकास आख्यान-काव्य में वैयक्तिक सुख-दुःख के तत्त्वों के सम्मिश्रण और स्वतंत्र गीत के दो रूपों में हुआ और इन गीतों की परम्परा में गीति-काव्य का विकास हुआ। लोक-गीत और गीत में अनेक रूपों में समानता है; किंतु गीति-काव्य की अवस्था में इन दोनों के स्वरूप में अन्तर आ जाता है, जिसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है।

प्राथमिक अवस्था में गीत मुख्यतया गेय थे। उनमें भाव-प्रसार के लिए काव्यत्व का आग्रह न था। मिलन विरह, हर्ष-शोक, आनन्द-विषाद का चित्र भावुकता द्वारा नहीं, बल्कि संगीत की भावाकुलता, भावना की अनुरूपता तथा

गेयता का आधार लेकर उपस्थित हुआ। आनंद की रागात्मक अभिव्यक्ति विषाद की अभिव्यक्ति से विभिन्न है और इस प्रकार के गीतों में केवल इनकी अभिव्यक्ति का आग्रह था। शब्द का कोई महत्त्वपूर्ण स्थान ऐसी अवस्था में न था तथा विषय-विधान का सम्यक् विकास भी नहीं हो सका था। भाषा उस अवस्था में थी, जिसमें भाव-प्रकाश और विस्तार के लिए वाद्य-यंत्रों की सहायता अपेक्षित थी। वाद्य-यंत्रों का विकास भी उन्नतावस्था में न था। प्रारंभिक अवस्था में प्रकृति की अनुकृति से मनुष्य प्रभावित था, यद्यपि उसकी क्षति-पूर्ति की चेष्टा प्रारंभ हो गयी थी। बर्बर जातियों के गीतों का अध्ययन भी इस दिशा में सहायक नहीं हो सकता क्योंकि उनमें भी विकास होता रहा है और युगों के अन्तराल से उनके वास्तविक स्वरूप की पहचान सम्भव नहीं। सामूहिक और वैयक्तिक भावना में अधिक अन्तर ऐसे युग में न था। गीतों में व्यक्त भाव का स्थान न था बल्कि उनके प्रभाव का कारण उनका संगीतत्व था, जिसमें अनुभूति का सहज प्रकाशन सम्भव था। प्रारंभिक काल के इन अनुभूति-बोधक गीतों का विकास होता रहा और आगे चलकर इनकी दो शाखाएँ हो गयीं। एक शाखा का विकास संगीत की शास्त्रीय व्यवस्था के अन्तर्गत हुआ और दूसरी का काव्यात्मक प्रणाली के अन्तर्जगत। काव्य में संगीत और चित्र दोनों का समन्वय है। काव्य का मूर्त्त-विधान चाक्षुष है; किंतु उसके संगीत-तत्व के कारण श्राव्य मूर्त्त-विधान का आग्रह कम नहीं। इन दोनों प्रकारों के मूर्त्त-विधान के सामञ्जस्य और समन्वय में कवि की सफलता है। प्रारंभिक गीतों के नमूने हमारे सामने नहीं, केवल उनके द्वारा प्राप्त साहित्यिक उन्मेष का आभास ही हमें यत्र-तत्र मिल सकता है। अतः उनके संबंध में निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता।

गीति-काव्य-परम्परा की दूसरी लड़ी वहाँ से शुरू होती है, जहाँ संगीत और गीत का अन्तर आरंभ हो जाता है। संगीत में जहाँ शास्त्रीयता का आग्रह है, वहाँ गीतों में भावुकता और आत्माभिव्यञ्जन का आवेश। गीतों की सामूहिकता इसमें भी नष्ट नहीं हो सकी, किंतु उसकी वैयक्तिक विशिष्टता स्पष्ट होने लगी थी। संगीत में शब्दों का मूल्य केवल इतना है कि इनके द्वारा लय-विस्तार और प्रसार का आधार मिलता है। गीतों में शब्दों का केवल इतना ही महत्त्व नहीं तथा संगीत-जैसा स्वर और लय, स्वर-सामञ्जस्य और ताल-पद्धति की अपेक्षा नहीं। शब्द केवल लय-विस्तार के आधार रूप में नहीं आते। गीत वस्तुनिष्ठ आख्यान काव्य और शास्त्रीय संगीत दोनों के विरोध में वैयक्तिकता का आधार लेकर चला। इस युग में जन-गीतों का उन्नत स्वरूप

हम पाते हैं जिसमें भाषा का नहीं, बल्कि भाव का; संगीत का नहीं, बल्कि रागात्मक अनुभूति का प्रबल आग्रह है। लोक-गीतों की स्वाभाविकता में काव्य के स्वीकृत विधान की कृत्रिमता के विरुद्ध विद्रोह की भावना है। जो आत्मीयता, जो संवेदनशीलता उनमें है, उतनी स्वीकृत काव्य में नहीं। कविता का प्रभाव अनेक अंशों में वैयक्तिक संस्कार और भावना के कारण है; इसीलिए जो लोग काव्यत्वपूर्ण काव्य के पोषक हैं, उन्हें प्रगतिशील कही जानेवाली कविताओं से रस-बोध नहीं होता। लोक-गीतों में काव्यत्व का अभाव माननेवाले काव्य में कृत्रिमता का जिसे कला की संज्ञा दी गयी है, अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान मानते हैं। कला यदि रागात्मक क्षणों की आवेशपूर्ण अभिव्यक्ति है, लोक-गीत निश्चयात्मक रूप से कलात्मक हैं। इनमें भावना और संगीत का समन्वय हैं :—

कारिक पियरि बदरिया झिमिकि दैव बरसहु।
बदरी जाइ बरसहु उहाँ देस जहाँ पिय कोड़ करें॥
भीजै आखर बाखर तम्बुआ कनतिया।
अरे भितराँ से हुलसै करेज समुझि घर आवैं॥

ऐसे गीतों मे कल्पना का विशद विस्तार नहीं, संगीत का शास्त्रीय विधान नहीं; छंद और अलंकार का तीव्र आग्रह भी नहीं होता, बल्कि साधारण शब्दों में अन्तर्वृत्ति का सहज स्वाभाविक मार्मिक प्रकाशन होता है। स्थूल वस्तुओं के दर्शन से भावना जागरित हो जाती है। प्रेरणा वाह्य रहती है। संगीत और काव्य के इस विच्छेद-युग में कला-गीतों पर संगीत का अधिक प्रभाव दीख पड़ता है यद्यपि भावोन्मेष का कम नहीं। भाव और संगीत में पारस्परिक संबंध और निर्भरता है। संगीतत्व के अभाव में भाव पूर्ण संवेग के साथ अभिव्यक्त नहीं होते और भाव के अभाव अथवा महत्व-हीनता में संगीत पूर्णता तक नहीं पहुँच पाता। भाव और संगीत एक-दूसरे के पूरक हैं। राग-विशेष द्वारा भावुकता और अनुभूति के विस्तार का प्रयत्न है; किंतु संगीत क्रमशः अपना प्राधान्य खोता चला गया और भावाभिव्यक्ति प्रधान होती रही। वर्णन-विधान अलंकृत रूप-विधान का साधन न रह आत्माभिव्यक्ति का साधन रहा।

विकास-क्रम की तीसरी लड़ी मे भाव और संगीत समान स्तर पर आ गए और पारस्परिक निर्भरता छूट-सी चली तथा एक के लिए दूसरे की हत्या भी नहीं हुई। भाव और संगीत, विषय और वर्णन-विधान के एकीकरण

द्वारा गीतों की कलात्मकता का विकास हुआ। और, गीत अपनी प्रकृति-भूमि पर आता दीख पड़ने लगा। दूसरी अवस्था में संगीत और काव्य की दो स्वतंत्र शाखाओं की चर्चा हुई है। काव्य छंद-बंधन स्वीकार कर संगीत का आग्रह ग्रहण कर लेता है; किंतु संगीतात्मकता की यह भावना परम्परागत और सांस्कारिक है। छन्दों का संगीत बँधे और कठोर नियमों के अन्तर्गत चलता है, जैसे संगीत का विकास अपने नियमों के अन्तर्गत। तीसरी अवस्था में संगीत और काव्य एक-दूसरे की सीमा में समान अधिकार से प्रवेश पाने लगते हैं। वैसे काव्य में एक ओर जहाँ भाव-प्रसारण की प्रवृत्ति होती है, वहाँ दूसरी ओर संगीत की शास्त्रीय संगति की भी। लोक-गीतों से विभिन्नता यहाँ दीख पड़ती है। उनमें भाव और संगीत की अन्विति है और यहाँ दोनों का सम्मिश्रण और एकीकरण है। संगीत-शास्त्र की रक्षा का प्रयास ऐसी अवस्था में आवश्यक है यद्यपि प्रत्येक अवस्था में उनकी रक्षा संभव नहीं हो सकती है। हिंदी-साहित्य का मध्ययुगीन काव्य इसका साक्षी है। सूर, तुलसी, मीरा के पद एक ओर जहाँ भाव-भूमि के प्रसार में सचेष्ट हैं, वहाँ संगीत की शास्त्रीय चेतना से आविष्ट भी। इतना अवश्य है कि संगीत की रक्षा के लिए न तो काव्यत्व की हत्या हुई है और न काव्यत्व की रक्षा के लिए शास्त्रीय संगीत की। सूरदास के शब्दों के विकृत रूप का कारण संगीतात्मकता की रक्षा का आग्रह नहीं, बल्कि भाषा और छंद के विरोधी तत्व हैं। पद-शैली के गीतों में स्थूल प्रेरणा के द्वारा अनुभूतिगत अभिव्यक्ति, अलंकारत्व और वर्णन का मोह उनके लोक-गीत प्रभावित होने के प्रमाण हैं। मीरा के पदों में तीव्र अनुभूति की अभिव्यक्ति के कारण गीति-काव्यत्व विशेष है। कबीर के रागात्मक-पदों में भी ऐसा उन्मेष है। गीतगोविन्द के गीतों और मध्यकालीन गीतों में अधिक समता है यद्यपि मध्यकालीन गीतों में संस्कार भी कम नहीं हुआ है। दोनों विकास की एक ही लड़ी में हैं।

काव्य इन अवस्थाओं में अपने आधुनिक रूप में उपस्थित न हो सका था। काव्य मुख्यतया श्रव्य था, यद्यपि लिखकर रखने की प्रथा का पूर्ण प्रचलन था। छापे की कला के कारण कविता का पाठ्य-रूप विकसित हुआ। गाकर पढ़ी जानेवाली कविता के स्थान में उसके मौन-पाठ का विस्तार हुआ; अतः संगीत-तत्त्व की प्रधानता खोती गयी और विषय अथवा विचार की प्रधानता बढ़ती गई। इस तथ्य ने कविता और विशेषकर गीति-काव्य के स्वरूप और विधान में युगान्तर उपस्थित किया। परिवर्तन के अनेक कारणों में काव्य का चाक्षुष मूर्त्त विधान भी है। पहले का कवि जहाँ चाक्षुष एवं श्राव्य

मूर्त्त-विधानों के समन्वय में संलग्न रहा, वहाँ आज का कवि अधिकाधिक चाक्षुष मूर्त्त-विधान उपस्थित करता रहा, यद्यपि पहली प्रवृत्ति का एकदम ह्रास नहीं हुआ, फलस्वरूप संगीत की शास्त्रीयता प्रधानता खोती गई। छंद के बंधन के त्याग में यही प्रवृत्ति थी यद्यपि मुक्त छंदों में भी कवि छंद-बंधन से एकान्त मुक्त नहीं हो सका।

चौथी अवस्था में आकर गीत संगीत के शास्त्रीय विधान का पल्ला छोड़कर गीति-काव्यत्व ग्रहण करता है। संगीत इस अवस्था में अनुभूति का अनुचर है, कुछ स्वतंत्र नहीं। संगीत के शास्त्रीय विधान की उपेक्षा के साथ ही आत्मतत्त्व, आत्मानुभूति और आत्माभिव्यञ्जन का मोह बढ़ता जाता है, इस प्रकार गीति-काव्य अधिकाधिक आत्मनिष्ठ होता गया। गीति-काव्य की तीसरी अवस्था में भावानुकूल संगीत की योजना है। छंद और राग विशेष द्वारा भाव-प्रकाशन में अद्भुत क्षमता आ जाती है। छंद-शास्त्र के विधायकों ने इसका विचार रखकर विशिष्ट रसों के लिए तदनुकूल छंदों का विधान किया था। काव्य पर संगीत की यह विजय थी। शृंगार के लिए शार्दूलविक्रीड़ित, वसन्ततिलका, मंदाक्रान्ता, मालिनी, द्रुतविलम्बित आदि छंदों का विधान शास्त्रकारों ने किया था। विरह वर्णन के लिए अपनी रुक-रुक कर चलनेवाली गति के कारण मंदाक्रान्ता अद्वितीय है जिसे कालिदास ने 'मेघदूत' में अमर कर दिया। सवैया और कवित्त के अति प्रचार के मूल में विषयों का सीमित होना भी है। संगीत का समन्वय तीसरी अवस्था में रहा। यद्यपि सर्वत्र उसके शास्त्रीय विधान की रक्षा नहीं हो सकी थी। चौथी अवस्था में संगीत के शास्त्रीय विधान का मोह छूट जाता है। शब्द में अपनी ध्वनि अतः, संगीत है। शब्दों के पारस्परिक संगठन और मेल के द्वारा उनके अन्तर्निहित संगीत का समन्वय अनुभूति-अभिव्यञ्जना के साथ होता है। मौन-पाठ का अर्थ है मन-ही-मन आवृत्ति। इस प्रकार विचार करते समय भी मनुष्य उच्चारण की प्रक्रिया में संलग्न है; कारण मानसिक बिम्बों के साथ उनका ध्वन्यात्मक साहचर्य भी रहता है। शब्द के उच्चारण में प्रयुक्त वाक्-क्रिया और तदनुरूप भावों के समन्वय में ही विचारों की स्थिति जान पड़ती है। गीति-काव्य के पाठ में भी यह प्रक्रिया कार्य करती है। संक्षेप में मन-ही-मन पाठ करने पर भी संगीतात्मकता का आग्रह बना रहता है। गीति-काव्य संगीत के शास्त्रीय विधान से भिन्न अन्तर्निहित संगीतात्मकता का आवेश ग्रहण करता है। इसके कारण विशिष्ट प्रभाव की योजना उसमें होती है। संगीत-तत्त्व के इस अनुबन्ध के कारण गीति-काव्य में भाव-प्रसारण और आत्माभिव्यञ्जन

का अधिक सुयोग रहता है। इस कारण गीति-काव्य की गति में वैशिष्ट्य और प्रभाव में तीव्रता है। गीति-काव्य को शास्त्रीय संगीत के बंधन में ढालना उसे उसकी प्रकृत भूमि से विच्छिन्न करना है। गीति-काव्य के प्रभाव का कारण संगीत नहीं, बल्कि संगीतात्मक अभिव्यञ्जना है। गीति-काव्य ऐसी अवस्था में पूर्ण इकाई है जिसके अंगों का विश्लेषण तो किया जा सकता है; किन्तु जिसमें रासायनिक एकता है। अन्विति इसकी आत्मा है। और, गीति-काव्य की यह है चरम परिणति।

[पारिजात : अगस्त, १९४७]

काव्य में आत्माभिव्यक्ति

कला की अधिकरणनिष्ठता एवं पदार्थनिष्ठता के संबंध में सदा से मतभेद रहा है। कला वैयक्तिक है अथवा सामाजिक—इस प्रश्न की मीमांसा आज-तक नहीं हो सकी है एवं इस विषय में आचार्यों, कवियों एवं समीक्षकों में मतैक्य स्थापित नहीं हो सका है। काव्य में पदार्थनिष्ठता को प्रधानता देने-वाले ग्रीक और संस्कृत साहित्य हैं। आदर्श और महत् चरित्र की कल्पना और अभिव्यक्ति संस्कृत-काव्य का आदर्श रही। अतः संस्कृत-साहित्य में प्रगीत मुक्तकों की नहीं, अपितु महाकाव्यों की प्रधानता रही। महाकाव्य का उद्देश्य चरित्रांकन था, अतः सिद्धांत की दृष्टि में संस्कृत-काव्य पदार्थ-निष्ठ (Objective) रहा। और संस्कृत के कवियों के सम्बन्ध में ऐसा प्रचा-रित किया जाता है कि वे आत्म-चिंता-शून्य थे और अपना परिचय तक उन्होंने नहीं छोड़ा। वास्तव में पदार्थनिष्ठता का सिद्धान्त स्वीकार करना उनके लिए कई कारणों से अनिवार्य-सा हो रहा था। कवि के मन में सदा यह भावना प्रबल रही कि क्या लोक-प्रसिद्धि ही काव्य की सफलता का मुख्य लक्षण है? किन्तु लोक-भावना पर उसे विश्वास न था, अतः आचार्यों ने सहृदय सामा-जिकों के निर्णय को अंगीकार किया। अभिनवगुप्त और मम्मट के मतानुसार "सहृदय सामाजिक काव्य-नाटकों के ऐसे श्रोता और दर्शक होते हैं, जो रति आदि का अनुभव करने में दक्ष होते हैं और जिनको नाटकों अथवा काव्यों में वर्णित रति आदि को तत्काल अनुभूति होती है।" इस सिद्धान्त को स्वीकार करने में काव्य की पदार्थनिष्ठता अंगीकृत करना आवश्यक इसलिए हो गया कि वस्तु के अभाव में सहृदय सामाजिक में रसानुभूति हो क्यों कर सकती है। आलंबन को विभाव के रूप में स्वीकार करने का यही मूल कारण था। किन्तु

पदार्थ-निष्ठता मात्र सिद्धान्त भर रही। काव्य की परिभाषाओं में "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" का प्रमुख स्थान रहा है। काव्य-सम्प्रदाय के अन्य आचार्यों ने भी काव्य में रस का महत्त्व स्वीकार किया है, यद्यपि भिन्न-भिन्न रूपों में। रस-निष्पत्ति के लिए आचार्यों ने आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव, संचारी और व्यभिचारी भावों का विधान किया है "विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रस-निष्पत्तिः"(नाट्यशास्त्र)। उपर्युक्त विधान से पूर्ण काव्य में रस की सिद्धि आचार्यों ने स्वीकृत की है। वास्तव में काव्य में रस नहीं होता, अपितु है रसोद्रेक की क्षमता। काव्य में रस है, इसका इतना ही तात्पर्य है कि उसमें रसोद्रेक की क्षमता पर्याप्त मात्रा में है। अन्यथा उसे काव्य की श्रेणी में रखना स्वयं काव्य का अपमान करना होगा। रस-सिद्धान्त यह स्वीकार करता है कि सामाजिक में राग—जिसे शास्त्रीय भाषा में स्थायी भाव कहा गया है—बीज रूप से सदा वर्तमान रहता है। कविता अथवा कला की सर्वश्रेष्ठ सफलता इसी में है कि वह कलाकार अथवा कवि के मनोरागों के अनुरूप राग सामाजिक में जागरित कर देती है। अतः काव्य मात्र उद्दीपन है। किसी वस्तु अथवा भाव के बोध से मानसिक प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न होती हैं; यदि प्रतिक्रियाएँ क्षीण हुईं, तो किसी प्रकार की अनुभूति नहीं होती। कवि कल्पना द्वारा अनुभूति को तीव्रता प्रदान कर सकता है; किन्तु अनुभूति उत्पन्न नहीं कर सकता। साधारणी-करण द्वारा अनुभूति किसी व्यक्ति-विशेष की न रहकर प्रत्येक सामाजिक की हो जाती है। वहाँ 'पर-प्रत्यक्ष' और 'अपर-प्रत्यक्ष' एकाकार हो जाते हैं। मानसिक प्रतिक्रियाओं द्वारा अनुभूति उत्पन्न होने का कारण वस्तु हैं; किन्तु अनुभूति स्वयं वस्तु नहीं, अतः कवि का काव्य पूर्णतः वस्तुनिष्ठ नहीं हो सकता। कोरी वस्तुनिष्ठ कविता का अस्तित्व नहीं। इस सिद्धांत द्वारा कला की पदार्थ-निष्ठता सिद्ध नहीं हो सकती।

नाम और जन्मस्थान का उल्लेख एवं जीवन के वर्षों की गणना में कवि का परिचय प्राप्त नहीं हो सकता। उसका मात्र शरीर सत्य नहीं; अस्तित्व जीवन का पर्याय नहीं। कलाकार अपनी भावनाओं एवं अनुभूतियों में जीवित रहता है। Ethel Mannin ने कहा है, 'We are what we are by what we have experieneed.' वास्तव में जीवन प्रेरणा-शक्ति का पर्याय है, अस्तित्व का नहीं; "जिन्दगी जिंदादिली का नाम है, मुर्दादिल क्या खाक जिया करते हैं।" भारतीय महाकवि जानता था कि उसकी अनुभूतियाँ सत्य हैं; अतः जन्म और मरण, वंश और वर्ग के उल्लेख द्वारा आत्म-परिचय

न देकर उसने वास्तविक जीवन—अनुभूति एवं रागात्मक आवेश—के द्वारा अपना परिचय दिया है। इसे प्रमाणित करने के लिए कुछ उदाहरण उपस्थित करूँगा।

'अहन्तु नानुशोचामि स्वशरीरं नरर्षभ
यथापवादः पौरणां तथैव रघुनन्दन
पतिर्हि देवता नार्याः पतिर्बन्धुः पतिर्गुरुः
प्राणैरपि प्रियं तस्मात् भर्तुः कार्यं विशेषतः॥

—वाल्मीकीय रामायण

[महाराज, मैं अपने शरीर के लिए जरा भी सोच नहीं करती। हे रघुनन्दन, पुरवासियों के द्वारा लगनेवाले तुम्हारे अपवाद का ही मुझे बड़ा सोच है। स्त्री के परमदेवता, बन्धु और गुरु पति ही हैं। अतः उसे अपने प्राणों को देकर भी पति का कार्य विशेष रूप से करना चाहिए।]

राम ने पुरवासियों द्वारा कलंकिता सीता का त्याग किया। वाल्मीकि की सीता की यह मानसिक प्रतिक्रिया है। सीता का यह चित्र सती साध्वी भारतीय नारी की है, जिसमें अपनी कोई स्वतन्त्र आकांक्षा नहीं, अपनी निजी सत्ता नहीं। वैधानिक शास्त्रकारों के ढाँचे में नपी-तुली सीता हैं। सीता को इस रूप में चित्रित करने का श्रेय वाल्मीकि की सुधारक (puritanic) भावना को है। ब्राह्मण-धर्म की आदर्श-भावना ही ने वाणी का रूप ग्रहण किया है। यह सीता का वस्तुगत चित्र नहीं हो सकता, अपितु वाल्मीकि की विशिष्ट और समाजगत भावना का चित्रण है। नाटकों में अंकित सीता का एक चित्र आप देखें :—

"हा धिक् हा धिक् मां मन्दभागिनीं व्याहृत्य अमीलन्नेत्र नीलोत्पलः मूर्च्छित एवं आर्यपुत्रः हा कथं धरणीपृष्ठे निरुत्साहनिःसहं विपर्यस्तः। भगवति तमसे परित्रायस्व जीवय आर्यपुत्रम्।"

—भवभूति : उत्तररामचरित्र

[हा धिक्कार है, धिक्कार है! आर्यपुत्र मुझ अभागिन का नाम लेकर नीलकमल-तुल्य नयन मूँदकर, मूर्च्छित और निरुत्साह होकर पृथ्वी के ऊपर विपर्यस्त भाव से पड़े हुए हैं। भगवति तमसे, रक्षा कीजिए, रक्षा कीजिए। आर्यपुत्र को सचेत कीजिए।]

भवभूति की सीता का अपना व्यक्तित्व नहीं; वे मात्र भावना रह गई हैं। ब्राह्मण-धर्म-शासित समाज की स्त्री-भावना ने सीता का रूप ग्रहण कर

लिया है। भवभूति की सीता वाल्मीकि की सीता से अधिक कोमल और मधुर हैं। भवभूति की अपनी कोमलता और मधुरता सीता में ढल गई है।

"वाच्यस्त्वया मद्वचनात् स राजा
वह्नौ विशुद्धामपि यत्समक्षम्।
मां लोकवाद श्रवणादहासीः
श्रुतस्य किं तत्सदृशं कुलस्य ॥"

—रघुवंशम्

[तुम मेरी ओर से उस राजा से कहना कि अपने समक्ष अग्नि में मुझे विशुद्ध पाकर भी उन्होंने जनता के अपवाद-भय से जो मुझे परित्याग किया है, वह क्या ऐसे विख्यात कुल के अनुरूप कार्य हुआ ?]

वाल्मीकि और भवभूति की सीता से कालिदास की सीता विभिन्न दीखती हैं; आत्म-चेतना—शून्य, आदर्श-प्राण जितनी वाल्मीकि और भवभूति की सीता हैं, उतनी कालिदास की नहीं, इनमें वैयक्तिक चेतना है, निजत्व है। 'अन्याय' के न्याय में इनका विश्वास नहीं। निर्वासन के औचित्य पर शंका करती है। कालिदास को—सालग होता है—भवभूति के समाधान।

आत्माभिव्यक्ति अधिकांश अवस्थाओं में प्रयासकृत नहीं है, किंतु आत्माभिव्यक्ति है अवश्य।

हिंदी-साहित्य का मध्यकाल भक्ति और शृंगार का युग रहा। तात्त्विक दृष्टि से शृंगार और भक्ति में कम का ही अन्तर है। साहित्य-शास्त्र की दृष्टि में दोनों का स्थायी भाव रति—भक्ति में भावद्विषयक—है। अन्तर इतना ही है कि भक्ति में पूज्य बुद्धि—श्रद्धा—रहती है और शृंगार में रहता है इसका अभाव। भक्ति को शृङ्गार में व्याप्ति है और शृङ्गार की भक्ति में। राधाकृष्ण के गुण-गान में—मनस्तत्व के विश्लेषकों की दृष्टि से—शृङ्गार की भावना प्रधान रही। शृङ्गारी कवियों ने राधिका को नायिका माना और कृष्ण का सामान्य नायक। नायिका के सम्पूर्ण रूप-विधान को एकरसता में है कवियों की शृङ्गारिक मनोवृत्ति का मात्र दिग्दर्शन। कवियों की नायिका ने राधा का रूप ग्रहण किया है, अतः राधा का वर्णन पदार्थनिष्ठ नहीं, अपितु कवि मनोवृत्ति का परिचायक है। इस प्रकार हमने देखा कि साधारणतया जिसे कला को पदार्थनिष्ठता कहते हैं, उसका आधार बड़ा क्षीण है और इस पर अवलम्बित कोई सिद्धान्त देर तक टिका नहीं रह सकता।

कला कलाकार की अनुभूति की अभिव्यक्ति है अथवा उसके विचारों की सिद्धि। कलागत अनुभूति और विचारधारा उसके कलाकार की अनुभूति और विचारधारा है, अतः कला वस्तुतः कलाकार की आत्माभिव्यक्ति है। यह प्रश्न दूसरा है कि किसी कलाकृति में कलाकार अपने को कितने अंशों में अभिव्यक्त करता है। ऑस्कर वाइल्ड का चित्रकार अपनी सर्वश्रेष्ठ कलाकृति प्रदर्शित नहीं करना चाहता, क्योंकि अपने विचार में उसने अपने-आपको अधिकांशतः अभिव्यक्त किया है। कलाकार की इसी आत्माभिव्यक्ति को हम कला कहते हैं। रसनिर्णय की पद्धति एवं पाठकों के निर्णय को स्वीकार करने में कलाकार की इस वैयक्तिकता का मृत्यु हो जाती है और काव्य निष्प्राण हो उठता है। हमारी शिक्षा और संस्कार व्यक्ति को व्यक्ति न रख अनुकृति (Type) बनाने की चेष्टा में संलग्न हैं। अभाग्यवश हमारी शिक्षा-प्रणाली व्यक्तित्व, निजत्व एवं वैयक्तिकता का विकास नहीं करती। हमारा जीवन यंत्रवत् परिचालित है। जीवन के इस वैचित्र्याभाव से कला में भी अनुकृतियों का बाहुल्य हो उठा है और काव्य मात्र शब्दाडम्बर रह गया है।

महाकवि अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति प्रणाली-विशेष से करता है। साधारण कवि—जिनमें प्रकृत शक्ति का अभाव है, उस कवि की रागात्मक

प्रेरणा पर दृष्टि न डाल उसकी पद्धति का अनुकरण करते हैं; फलस्वरूप ऐसी कविताओं की बाढ़ आ जाती है, जिनमें जीवन का स्पंदन नहीं, रागात्मक आवेश नहीं। ऐसी कविता शब्दों का मात्र संघटन हैं जो कभी-कभी सार्थक और अधिकांश अवस्थाओं में निरर्थक होता है। समालोचक इन नक्काली की फटकार के समय रागात्मिका शक्ति से अनुप्राणित कवि को भी खबर ले बैठता है। प्रभविष्णुता कवि की रागात्मक अभिव्यक्ति में है। गेटे ने लिखा है—"It is the personal character of the writer that brings his meaning before his readers not, the artifices of his talent."

रागात्मिका शक्ति का अवरुद्ध प्रवाह उमड़ क्यों पड़ता है? कवि के मानस पर वस्तु, घटना—वास्तविक अथवा काल्पनिक—का प्रभाव पड़ता है। विशिष्ट परिस्थितियों में विशिष्ट प्रतिक्रियाएँ होती हैं। यदि प्रतिक्रिया में पर्याप्त मात्रा में सबलता नहीं तो वह नष्ट हो जाती है। सबल और सशक्त प्रतिक्रियाएँ राग और अनुभूति का रूप ग्रहण करती हैं। कल्पना के द्वारा सवर्ग प्रतिक्रियाओं की प्रेरणा से कवि अपनी मानसिक प्रतिक्रिया, रागात्मक आवेश और अनुभूति को शक्तिमत्ता एवं सक्षमता प्रदान करता है। इस अवस्था में कवि की वाणी फूट पड़ती है और काव्य की रस-सिद्ध धारा उमड़ पड़ती है, जिसमें इतनी शक्ति, इतनी प्रेषणीयता एवं प्रभविष्णुता होती है कि वह दूसरों को आकृष्ट कर सके, आकर्षित कर सके। यदि किसी की कविता द्वारा सहृदय पाठक आकृष्ट न हो सके तो इसका अर्थ कदापि नहीं कि उसमें काव्य-रसास्वादन की शक्ति का अभाव है, बल्कि यह भी मानना होगा कि कवि को मानसिक प्रतिक्रिया में पर्याप्त बल नहीं, रागात्मक आवेश नहीं। वहाँ अभिव्यञ्जना की प्रणाली का दोष नहीं, सम्भव है उसमें मानसिक प्रतिक्रिया हुई ही न हो अथवा अत्यन्त क्षीण हो; सम्भव है, कोरी कल्पना के द्वारा रागात्मक अनुभूति का आवेश वह पाना चाहता हो, अथवा सम्भव है—जैसा अधिकांश अवस्थाओं में होता है—शिक्षा और संस्कार के दोष से वह अनुकृतियों (Type) का सृजनकर आत्म-तुष्टि-लाभ करना चाहता हो। उसके पास, साधारण भाषा में, कहने के लिए कुछ है नहीं, उसमें अपना व्यक्तित्व नहीं निजत्व नहीं, फिर प्रेषणीयता आवेगी कैसे?

मानसिक प्रतिक्रिया, रागात्मिका प्रवृत्ति की जागर्ति क्षण-विशेष में होती है और उसका कारण अवश्य है। कलाकार किसी माध्यम के द्वारा इस क्षण की रागात्मिका अभिव्यक्ति करता है। कला उसी दूरी तक पदार्थनिष्ठ है,

जहाँतक वह घटना, वस्तु अथवा अवस्थाओं से उद्‌बुद्ध हुई है। किन्तु, वह अधिकरणनिष्ठ है, वैयक्तिक है, क्योंकि उसमें व्यक्ति-विशेष—कलाकार—की रागात्मक प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति है। अतः कोई वस्तु सुन्दर अथवा असुन्दर नहीं। सुरूप अथवा कुरूप कलाकार की भावनाएँ हैं। रूप-विधान भावना को मूर्तिमत्ता देता है और भावना रूप-विधान को आत्मा। कला वस्तु को विशिष्ट दृष्टि से देखने का साधन है, वह उसे नवीन रूप देती है, समानता होने पर भी दोनों में अन्तर है। कला-कृति में चित्रित वस्तु और कला को उत्तेजित करनेवाली वस्तुएँ भिन्न हैं, दोनों की विभिन्न सत्ता है। रूढ़ियों का तिरस्कार करनेवाले साहित्य, कला या काव्य को भावना को नवीनता प्रदान नहीं करते, किन्तु करते हैं नवीन परम्पराओं की सृष्टि। कला-कृति अतः न तो पूर्णतः पदार्थनिष्ठ है, न अधिकरणनिष्ठ। दोनों का सन्तुलित समन्वय ही कला का ध्येय है। अपने आपको सचाई से अभिव्यक्त न करनेवाले कलाकार अनुकरण की प्रवृत्ति के कारण अपने रागात्मक क्षणों की अभिव्यक्ति न कर अनुकृतियों के सर्जन में व्यर्थ का श्रम करते हैं और इस प्रकार की कला-कृतियों का जब बाहुल्य होता है, तब कला का ह्रास होता है।

परम्परा का विरोध करते समय कवि आत्माभिव्यक्ति को ही साधन बनाता है, और इसी के कारण हैं काव्य में प्राण और चेतना। हिंदी साहित्य का इतिहास भी ऐसे उदाहरणों से रिक्त नहीं। परम्पराओं की बाढ़ में जिस समय अनेक अधकचरे कवि (Pseudo-poets) कूड़ा-कर्कट के उत्पादन में, साहित्यिक व्याकरण के नियमों के अनुसार छन्दों के निर्माण द्वारा अनुभूति की हत्या एवं कल्पना के पर कतरने में तल्लीन थे, ऐसे कवियों का अभ्युदय हुआ, जिन्होंने रागात्मिका वृत्ति की अभिव्यक्ति द्वारा काव्य को नवजीवन-दान दिया। वैसे कवियों के व्यक्तित्व और उनके निजत्व ने कविता के साथ एकात्मता ग्रहण कर ली। उनमें और उनकी कला में कोई अन्तर नहीं, कोई भेद नहीं। कलाकार को और कलाकृति की भावना में यदि हम भेद देख पाते हैं, यदि देख सकते हैं, कहना होगा कि कलाकार ने अपने आपको अभिव्यक्त नहीं किया। आत्माभिव्यक्ति का यह अर्थ कदापि नहीं कि कवि केवल अपनी दूसरी पत्नी के विरह में गीत गाए, अपनी प्रेयसी के कपोलों की रक्तिमा का चित्र उतारे; किन्तु सौंदर्य और पीड़ा की अनुभूति सत्य हो। स्मरण रखना होगा कि अनुभूति ही वास्तव में सत्य है, वह घटना अथवा वस्तु नहीं, जिसके कारण वैसी अनुभूति जगी है। अपने को

प्रगतिशील कहनेवाले अधिकांश कवियों की रचनाएँ कविता इसलिए नहीं कही जा सकतीं कि उनमें अनुभूति का अभाव है। वे नई परम्परा के अनुकरण मात्र हैं।

"वे जो राते-राते फूलन फूले डार
हरि बिन फूल झरी-सी लागत,
झरी-झरी परत अँगार।
फूल बिनन ना जाऊँ सखी री,
हरि बिनु कैसे फूल!
सुन री सखी तोहिं राम दोहाई,
लागत फूल तिरसूल॥" (सूरदास)

सूर के राग-स्पंदन इन पंक्तियों में लक्षित हैं। विशेषज्ञ कहते हैं—'चिन्तामणि के प्रेम-व्यापार की कथा असत्य है, वह बिल्वमंगल सूर की कथा है, वह वास्तविक सूर का चरित्र नहीं।' ऐतिहासिक सत्य चाहे जो हो—उससे हमारा विरोध नहीं, झगड़ा नहीं, किन्तु सूरदास की मर्मव्यथा सत्य है, पीड़ा की अनुभूति सत्य है और सच्ची है प्रेरणा। प्राणों की इस पीड़ा में प्रभविष्णुता है, उत्तेजना है, जो अनुकरण करनेवालों में प्राप्य नहीं; विरह में आँसुओं का समुद्र उमड़ानेवाले कवियों में भी वह शक्ति नहीं, जो घायल कर सके। 'घायल की गति घायल जाने' के अनुसार सूर के घायल मन ने गोपियों की 'पीर' समझी। केवल राधा-राधा नाम रटकर लोगों की अतिभावुकता उभारी जा सकती है, राग और अनुभूति नहीं। चन्द्रगुप्त और पृथ्वीराज, शिवा और प्रताप का नाम लेकर अतिभावुकता उभारनेवालों में भी कुछ ऐसी ही बात है। मुट्ठी बाँधना ही प्राण-शक्ति और उत्तेजना का प्रतीक नहीं, कला हम उसे कह सकेंगे, जिसमें इनका संकेत हो, व्यञ्जना हो। आधुनिक कवियों में भी इस आत्माभिव्यक्ति का अभाव नहीं। पंत में—प्रगतिवादी पंत नहीं जो मात्र 'बौद्धिक सहानुभूति' की मूर्त्ति हैं, यह प्रचुर मात्रा में प्राप्त है :—

आह मेरा गीला गान,
वर्ण-वर्ण है उर का कंपन
शब्द-शब्द है सुधि का दंशन
चरण-चरण है आह,
कथा है कण कण करुण अथाह—
बूँद में बाड़व का दाह।

सूर की पीड़ा के दर्शन पंत में होते हैं। सूर में है स्पष्टता और पंत में वक्रता। पंत की आत्माभिव्यक्ति प्रकट और कलात्मक है; पीड़ा की अनुभूति सत्य है। पीड़ा के मूल कारण की खोज पुरातत्वान्वेषण का विषय भले हो, काव्य रसिक के लिए आवश्यक नहीं। उसके लिये इतना सत्य ही पर्याप्त है कि कवि अपनी अनुभूतियों के प्रति जागरूक है, उनमें अपनी रागात्मिका वृत्ति के प्रति सत्यता है। महादेवी का कोमल व्यक्तित्व अपने आप में संकुचित-सा लक्षित होता है। महादेवी जी का भौतिक व्यक्तित्व कैसा है, इसका मुझे ज्ञान नहीं, कारण कभी दर्शनों का सौभाग्य मुझे प्राप्त नहीं,* किन्तु आध्यात्मिक और कलात्मक व्यक्तित्व इसी रूप में मेरे समक्ष उपस्थित होता रहा है :—

नित सुनहली साँझ के
पद से लिपट आता अँधेरा;
पुलक पंखी विरह पर उड़
आ रहा है मिलन मेरा;
कौन जाने है बसा उस पार
तम या रागमय दिन।

—महादेवी।

इस मधुर व्यक्तित्व में उत्तेजना नहीं, सबलता नहीं, जिसे हम कर्मण्य और परुष जीवन कहते हैं, उसका स्पंदन नहीं, इनके स्थान में मधुरिमा, स्वप्नावेश है, आशा का झिलमिल प्रकाश है, शान्ति नहीं है और उद्वेलित कर उठनेवाली अशान्ति भी नहीं, वैसा सौंदर्य नहीं, जो प्राणों का झुलसा दे, बल्कि करुणा मिश्रित नवीन सौंदर्य-लोक है। क्षितिज-प्रान्त की भाँति यह व्यक्तित्व अस्पष्ट भी है और कुछ स्पष्ट भी। ऐसा व्यक्तित्व है, जिसकी अनुभूति तो होती है, किन्तु शब्दों में चित्र आँक सकना सहल नहीं होता।

"क्यों मुसकातीं? बोलो आली।
जाड़ा है, रात अँधेरी है
सन्नाटा है, जग सोया है
फिर यह काँटों को टहनी है
कैसे मुसका उठीं आली?"

—श्री माखनलाल चतुर्वेदी

* यह सौभाग्य अब प्राप्त हो चुका है।

कवि का व्यक्तित्व अभिव्यक्ति के लिए उतावला-सा हो उठा है। परिस्थितियाँ अनुकूल नहीं, संसार की तटस्थता उसे खलती है। विरोध पर झुंझलाहट है। न तो उसमें पन्त की कलात्मकता है और न महादेवी की कोमल मधुरिमा। परुष शक्ति जैसे शैवाल हटा जल में मार्ग बनाने को सचेष्ट है। शक्ति है, किन्तु उद्दाम नहीं, प्रेरणा है और बाधा-बन्धन का अवरोध भी। विषम परिस्थितियों से आवृत इस अभिव्यक्ति से उसे सन्तोष नहीं, और है उसे अपनी विवशता का ज्ञान भी :—

बँधा तूफान हूँ, चलना मना है
बँधी उद्दाम निर्झर धार हूँ मैं;
कहूँ क्या कौन हूँ? क्या आग मेरी?
बँधी है लेखनी लाचार हूँ मैं।

—दिनकर

मनुष्य के विचार और स्वप्न, उसकी अतृप्त आकांक्षाएँ और वासनाएँ सभी सत्य हैं। यह अतृप्ति विरोध—आन्तरिक और वाह्य दोनों— उन परिस्थितियों के कारण है जिनको सृष्टि उसने स्वयं की है अथवा जिनके बीच वह विवशतापूर्वक ला पटका गया है। अहंपूर्ण व्यक्तित्व समझ बैठता है कि सारा संसार उसका शत्रु है और ऐसी परिस्थिति में संघर्ष भयाक्रान्त नहीं होने पर भी, संघर्ष नहीं बल्कि उसका विरोध उसके लिए मात्र सत्य बन बैठता है। वह संसार को उसकी वास्तविक परिस्थिति में नहीं देखकर अपनी दृष्टि के भीतर आबद्ध देखता है और क्रमशः उसका अन्तर्विरोध प्रबलतर हो उठता है। दिनकर की आत्मनिष्ठ भावना को यह विश्वास नहीं हो सकता कि उसमें शक्ति नहीं, बल्कि परिस्थितियाँ उसे इतनी प्रतिकूल जान पड़ती हैं कि वह कह उठता है 'बँधी है लेखनी लाचार हूँ मैं।' विवशता अपनी सीमाओं का नाम है, जिसमें सीमा अतिक्रमण करने की आकांक्षा है, उसे विवशताएँ घेर नहीं पातीं। विवशता संकल्प-विकल्प-पूर्ण मानस की अनस्थिरता है। मानसिक संघर्ष का चित्र 'आग मेरी' में है।

फूलों पर मधुपों का गुंजन, फुलचुग्गी का मंजुल रुन-झुन।
सुग्गों का फल खाना चुनचुन, यह सब वन में लखलख सुन-पुन॥
कैसा मन जो उठता न डोल, रे पंछी मंजुल बोल-बोल॥

जब बैठ नीड़ में डालों पर, सुड़ला-चुहला चोंचों से पर।
गदगद होकर आँसू भर-भर, कुछ गीत न गाया रे क्षण-भर।
ओ इस जीवन का कुछ न मोल, रे पंछी मंजुल बोल-बोल॥

—नेपाली

नेपाली की इन पंक्तियों में प्रकृति-दर्शन की चाह है। ज्ञात होता है कवि अपने नागरिक वातावरण से उद्विग्न और क्षुब्ध हो उठा है।

जीवन का अनन्त प्रवाह उसे कठोर कारा में आबद्ध मानवता की पुकार जैसी लगती है। वह आनन्द चाहता है, इसकी उसे चाह है, विशेष आकांक्षा है, लेकिन जीवन के होड़ में आनन्द कहाँ? किन्तु वह देखता है, चिड़ियाँ चहकती हैं और केवल निर्बल मनुष्य अपनी सीमाओं में बँधा, रूढ़ि और परम्परा से जकड़ा, यन्त्र की भाँति इस जीवन-क्रम में संलग्न है। प्रकृति के इस विशाल प्रांगण में ही अतृप्त जीवन मिटता दीख पड़ता है। जान पड़ता है, वह जंगली पौधा है, जो खुली वायु में पनपता है, चहारदीवारी में उसके दम घुटते हैं और वह पुनः उस प्रकृति के बीच भाग जाना चाहता है। वह इस देश का वासी नहीं, वह उन्हीं सुरगों, फूल-पत्ती के बीच का प्राणी है जो भूल से इस राह लग गया है। अल्हड़पन है, निर्बाधता है, उन्मुक्तता है उसके व्यक्तित्व में। कुछ इसी प्रकार के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति यहाँ हुई है।

मैं इसे ही कवि की आत्माभिव्यक्ति मानता रहा हूँ।

[साप्ताहिक ऊषाः नव वर्षाङ्क, १९४४]

वर्तमान हिन्दी काव्य की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ

भारतीय विचार-धारा में बीसवीं सदी 'क्रान्ति का युग' है। प्रत्येक क्षेत्र—साहित्यिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक—में क्रान्ति हुई है। पुराने विचार प्रातःकालीन कुहरे की भाँति उड़ते जा रहे हैं। नवयुग ने स्वच्छन्द मनोवृत्ति, अदम्य उत्साह और विद्रोह-भावना का सादर स्वागत किया है। युग-युग की आस्था और विश्वास के प्रति घोर विद्रोह का उद्भव हुआ। यह नवीनता एवं स्फूर्ति का युग है। अकर्मण्यता का गढ़ ढह चुका है! आज सर्वत्र कर्मण्यता एवं निर्माण का शंखनाद है। विद्रोह सदा से ध्वंस का परिचायक है; पर इन ध्वंसावशेषों में ही नव-जागृति का बीज अंकुरित होता रहता है। इस विद्रोही युग का अन्यतम प्रभाव साहित्यिक मनोवृत्तियों तथा प्रेरणाओं पर पड़ा है। ऐसी अवस्था में काव्य-क्षेत्र में नवीन भावनाओं, नूतन प्रवृत्तियों एवं विशिष्ट धाराओं का प्रवेश आश्चर्यजनक नहीं, अपितु स्वाभाविक है। इस युग की सबसे बड़ी विशेषता परतंत्रता के प्रति विद्रोह एवं 'स्वतंत्रता का ग्रहण' है। साहित्यिक रूढ़िवाद का विरोध कवियों ने किया जिसके फलस्वरूप हिन्दी-साहित्य का वर्तमान रूप है। इस 'स्वतन्त्रता का भाव' आधुनिक साहित्य में पूर्णतः परिलक्षित है। कवियों की क्रान्ति-भावना एवं विद्रोह-प्रियता ने काव्य को नवीन रूप एवं प्रेरणा तथा गति प्रदान की है। नवयुग का स्वागत करता हुआ नवयुवक कवि परिवर्तन एवं युगान्तर का आवाहन करता है :—

अरे, युगान्तर, आ जल्दी अब खोल-खोल मेरा बन्धन;
बँधा हुआ इन जंजीरों से तड़प रहा कब से जीवन।

* * *

आ जा, ला दे कण-कण में अब फिर से ऐसा परिवर्तन;
मरता जहाँ आज यह जीवन, वहाँ करे यौवन नर्तन।

—नेपाली

परवशता एवं रुढ़िवाद के दुर्वह भार से कवि की आत्मा विद्रोह कर उठती है। वह प्राचीन बन्धनों को तोड़-फोड़ कर अपनी आत्मा को स्वतन्त्र करना चाहता है। उत्साह पथप्रदर्शक, साहस सम्बल और निर्भयता अस्त्र है। कवि की वाणी उद्घोषित हो जाती हैं। शंख की गम्भीर ध्वनि के साथ वह 'विद्रोह' का स्वागत करता है। कवि की आत्मा, उसके प्राण, उसकी वाणी नव-जागरण में प्राचीन को मिटा देने के लिए आकुल हैं :—

द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र।
हे स्रस्त-ध्वस्त हे! शुष्क-शीर्ण!
हिम-ताप-पीत, मधुवात-भीत,!
तुम वीत राग, जड़, पुराचीन!

—पंत

काव्य के वर्ण्य-वस्तु (Matter) तथा वर्णन-विधान (Form) दोनों क्षेत्रों में परिवर्तन हुए हैं। इस युग में अन्य साहित्यों के सम्पर्क में आने से नवयुवक कवियों की प्रतिभा विकसित एवं अन्तर्दृष्टि सजग हो उठी। अंग्रेजी और बँगला के सम्पर्क में आकर इनका दृष्टिकोण विस्तृत और परिमार्जित हो उठा। यद्यपि कुछ तीसरे दर्जे के कवियों ने बँगला से होकर आती हुई अंग्रेजी की लाक्षणिकता को ही काव्य का प्राण समझ लिया और इसकी विशेष आराधना की, तथापि युग-परिवर्तनकारी कवियों ने अपनी गहरी छाप इस विदेशी लाक्षणिकता पर कर दी। लाक्षणिकता स्वयं बुरी वस्तु नहीं, और यदि पक्षपात छोड़कर देखा जाय, तो इसने एक सीमा तक खड़ी बोली की खुरदराहट को साफ किया है और इसे गत्यात्मक बनाने में पर्याप्त सहायता दी है।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने जागृति और क्रान्ति का झंडा लहराया। साहित्य-सागर में एक नई लहर पैदा हुई। उनके बाद भाषा को काट-छाँट कर परिमार्जित एवं सुडौल बनाने का भार वयोवृद्ध साहित्य-सेवी आचार्य महावीर-प्रसाद द्विवेदी पर पड़ा। साधारणतः उनका ध्यान वर्णन-विधान एवं भाषा की शुद्धता की तरफ था, वर्ण्य विषय की ओर नहीं। भाषा की शुद्धता की साधना पूज्य द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' की सेवा द्वारा की। खड़ी बोली की स्वरूप-निश्चितता में उनके दीर्घ जीवन की साधना निहित है। उनके युग में

विशेषतः वर्णनात्मक काव्य की सृष्टि हुई। ऐसी कविताएँ जहाँ जनसाधारण द्वारा सम्मानित होती हैं, वहाँ विद्वत्समाज द्वारा अ-समादृत। ऐसी कविताओं में कवि की आत्मा नहीं दीखती। कवि केवल फोटोग्राफर की तरह सामने पड़नेवाली वस्तु का चित्र-भर उतार लेता है। आत्मा नहीं उतरती। इसीलिए इस युग में प्रबंध-काव्य की सृष्टि हुई। सीमा का सामीप्य प्रत्यावर्तन सूचक है। ऐसी दशा में प्रत्यावर्तन आवश्यक एवं प्राकृतिक था। फलतः कवियों का विद्रोह उनके आत्माभिव्यंजन एवं अन्तर्जगत चित्रण के रूप में प्रकट हुआ। काव्य की दो प्रमुख विशिष्ट श्रेणियाँ स्थिर की जा सकती हैं। प्रथम श्रेणी की कविता में कवि अपनी आत्मानुभूति, अपना सुख-दुःख, विरह-मिलन, उत्साह-विषाद और पीड़ा-प्रेम छन्दों में बाँध देता है। इस प्रकार की कविताओं में व्यक्तित्व की गहरी छाप रहती है। दूसरी श्रेणी की कविताओं में कवि अपनी बात नहीं करता, बल्कि जगत् की आशा-निराशा, जय-पराजय और हास-उल्लास को कल्पना के धागे में पिरोकर उसे ही लौटा देता है। वस्तुतः वस्तु जगत की और वर्णन-विधान कवि का रहता है। इस प्रकार की कविताओं में व्यक्तित्व के विकास और अभिव्यंजना के लिए संकुचित स्थान रहता है। व्यक्ति का माध्यम होने के कारण ही उसमें व्यक्तित्व की किंचित् चित्र-रेखा दृष्टिगत होती है। दूसरी श्रेणी के लिए विशेष अन्तर्दृष्टि की आवश्यकता होती है, अन्यथा कवि सतह पर की तिरती हुई वस्तुओं को ही देख सकेगा और सागर का गम्भीर अन्तस्तल सदा उसके लिए अज्ञेय ही बना रहेगा। उत्थान काल के प्रभात में द्वितीय श्रेणी की कविताओं का ही बाहुल्य रहा, और इसके प्रत्यावर्तन के रूप में आधुनिक आत्माभिव्यंजन-प्रधान काव्य आया।

प्रिय! मैं हूँ एक पहेली भी!
जितना मधु जितना मधुर हास,
जितना मद तेरी चितवन में;
जितना क्रन्दन जितना विषाद,
जितना विष जग के स्पन्दन में;
पी-पी मैं चिर दुख-प्यास बनी
सुख-सरिता की रँगरेली भी!—महादेवी

कवयित्री का 'मैं' जीवात्मा का प्रतीक है और 'तुम' आत्मा के परमलक्ष्य का। इस आध्यात्मिकता में जीवात्मा का 'मैं'-रूप-आत्माभिव्यंजन—श्रीमती वर्मा की विशेषता है।

लेकर अतृप्त तृष्णा को, आया हूँ मैं दीवाना
सीखा ही नहीं यहाँ है, थक जाना या छक जाना,
यह प्यास नहीं बुझने की, पी लेने दे मनमाना,
बस मत कर देना रुपसि, 'बस करना' है मर जाना।

—भगवतीचरण वर्मा

तृष्णा ही जीवन का सम्बल है। जिसकी सारी तृष्णाएँ मिट गईं, जिसकी प्यास बुझ गई, चाहे समाप्त हो गई, फिर उसका जीवन ही क्या रहा? इस युग का सर्वप्रथम लक्षण काव्य में आत्माभिव्यंजन और व्यक्तिगत अनुभव का चित्रण है। इसकी ध्वनि निम्नलिखित पंक्तियों में मिलती है :—

था हर्ष कभी, है आज एक,
मुझ निर्धन का सर्वस्व शोक।

—द्विज

राग के पीछे छिपा चीत्कार कह देगा किसी दिन,
हैं लिखे मधु-गीत मैंने, हो खड़े जीवन-समर में।

—बच्चन

काव्य-जगत् ऐन्द्रियता के वशीभूत होकर प्रकृति से दूर जा पड़ा था। रीतिकाल की कविताएँ कालिन्दी-कूल, पनघट, कदम्ब-छाया, 'कन्हाई' और 'जुन्हाई' की परिधि से बाहर न जा सकी थीं। रीति-काव्य के कवियों के लिए प्रकृति स्वयं वर्ण्य विषय न थी। उसका उपयोग केवल उद्दीपन रूप में ही हुआ था। संस्कृत साहित्य के अनेक स्थलों में प्रकृति का पूर्ण-चित्र उपलब्ध है, किन्तु यह सदा ध्यान रखने योग्य है कि प्रकृति-वर्णन ही उनका उद्देश्य न था। महाकवि भवभूति का उत्तररामचरित प्रकृति-वर्णन से परिपूर्ण है। रामचन्द्र दण्डकारण्य की सैर करते समय वर्णन करते हैं :—

स्निग्धश्यामाः क्वचिदपरतो भीषणाभोगरूक्षाः
स्थाने स्थाने मुखरककुभो झंकृतैर्निर्झराणाम्।
एते तीर्थाश्रमगिरिसरिद्गर्भ कान्तारमिश्राः
संदृश्यन्ते परिचितभुवो दण्डकारण्यभागाः।

इस प्रकृति का सम्यक् वर्णन इन पंक्तियों में प्राप्य है; किन्तु प्रकृति की आत्मा की ओर कवि का ध्यान न था। कहीं हरी घास है, कहीं झरने झरते है, कहीं आश्रम हैं, कहीं पहाड़ और कहीं नदियाँ हैं। प्रकृति के सभी उपकरण भिन्न-भिन्न ज्ञात होते हैं, उनमें कोई पारस्परिक एकत्व नहीं दीखता।

हिन्दी के आधुनिक कवियों ने प्रकृति को ही नहीं देखा है, बल्कि प्रकृति की आत्मा का अनुभव भी किया है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने 'आमन्त्रण' शीर्षक कविता द्वारा कवियों का ध्यान इस विशाल ग्रन्थ की ओर आकृष्ट किया था।

'कल कुवँरता नभ की प्रतिबिम्बित,
खंजन के मन भाती जहाँ,
कविता वह हाथ उठाए हुए,
चलिए कवि-वृन्द बुलाती वहाँ

से आज भी शत-शत कवियों को प्रकृति-चित्रण की प्रेरणा मिलती है। प्राचीन युग के कवि प्रकृति का चित्र उतार देना ही अलम् समझते थे। आधुनिक युग के कवियों का दृष्टिकोण बदल गया है,और वे आवरण के भीतर छिपी हुई प्रकृति की आत्मा देखने लग गये हैं। पंतजी ने प्रकृति के बीच विकास पाया है। प्रकृति ने अपनी मनोहरता, नवीनता, परिवर्तनशीलता, चपलता, सुषमा एवं मधुरिमा का अक्षय कोष कवि के सामने खोल रखा है। फलतः वे प्रकृति के कवि हैं। 'युगान्त' में कवि की प्रकृति-प्रियता पूर्णरूप से लक्षित है। कवि ने प्रकृति और मानव का सम्बन्ध भी देखा है। वह प्रकृति का प्रत्येक अंग जीवित और मानवता से सम्बद्ध पाता है :—

वह विजन चाँदनी की घाटी
छाई मृदु वन-तरु-गन्ध जहाँ
नीबू-आड़ू के मुकुलों के
मद से मलयानिल लदा वहाँ
* * *
यौवन का री वह मधुर स्वर्ग
जीवन-आधाएँ वहाँ कहाँ? —नेपाली

तरुण कवि नेपाली भी प्रकृति का पुजारी है। कभी-कभी उसकी प्रकृति-प्रियता इतनी सरल हो उठती है कि वह बिलकुल साधारण ज्ञात होती है। कवि की दृष्टि में प्रकृति सजीव और संवेदनशील है; दुःख-सुख की साथिनी और सहानुभूति-प्रदर्शिका है। कवि मस्त घड़ियों में गा उठता है :—

घूँघट खोल कली मुसका दे, मधुप बुलाता है पल-पल;
आ पहुँचा अपनी नीड़ों से दूर देश से पंछी-दल।
आती है जगती में मधुऋतु, कूक-कूक उठती कोयल;
तू हँस देगी तभी न तरु में पक आवेंगे मीठे फल।

जिनको चुन चोंचों से खावेगा नित पंछी-दल ;
यह जीवन भी सरस बनेगा जैसे मधुर रसीले फल।
गम-गम गमक उठेगा सब जग, क्या उपवन रे क्या जंगल;
तू हँस देगी, मैं हँस दूँगा, होगा जंगल में मंगल।

—नेपाली

वर्तमान युग की विशिष्ट धारा 'करुणावाद' के रूप में आई है। इसे देखकर कोटरस्थ वृद्ध यरदगवों के कान खड़े हो गए हैं, और उन्होंने एक स्वर से इसके विरुद्ध जेहाद बोल दिया है। बिहार के एक प्रमुख साहित्य-सेवी एवं पत्रकार के शब्दों में हिन्दी-साहित्य का आधुनिक करुणावाद 'पराजयता' (defeatism) का प्रतीक है। कुछ साहित्यिकों के दृष्टिकोण में 'भारतीय क्रान्ति की लगातार असफलता' ही इसके बीज-रूप में कार्य कर रही है। यह करुणावाद क्या पराजय का फल है ? क्या निराशावाद असफलता का द्योतक है ? कितने युगों की समाधि के बाद सन् १९१९-२१ में क्रान्ति की लहर असहयोग-आन्दोलन के रूप में आई। क्रान्ति सफल अथवा असफल रही, यह विचारणीय विषय नहीं; किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इस प्रकार की कविताओं का जन्म इसी काल में हुआ। क्रान्ति के असफल होने पर भी बार-बार की असफलता का प्रश्न नहीं उठता। द्विवेदी युग के इतिवृत्यात्मक काव्य की रूक्षता के प्रति विद्रोह 'करुणावाद' के रूप में प्रकट हुआ। करुण स्वयं प्रभावशाली रस है। संस्कृत साहित्य में भी इसका प्राधान्य रहा है। उत्तररामचरितकार वाग्विभूति भवभूति तो इसे ही सर्वप्रधान रस मानते हैं, वे लिखते हैं :—

एकोरसः करुण एव निमित्तभेदा-
द्विन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्त्तान्।
आवर्त्तबुद्बुदतरंगमयान् विकारान्
अम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम्।

[एक करुणरस ही निमित्त-भेद से भिन्न होकर पृथक्-पृथक् परिणामों को ग्रहण करता है। जल के आवर्त्त, बुदबुद, तरंगादि जितने विकार हैं, वे समस्त सलिल ही होते हैं।] इसके साथ-ही-साथ उर्दू साहित्य करुण-स्रोत से ओतप्रोत था। इस शैली के कवि उर्दू-साहित्य से प्रभावित अवश्य हुए। अंग्रेजी के सम्पर्क में आने और उसकी लाक्षणिकता से चमत्कृत होनेवाले कवियों ने वहाँ भी कारुणिकता को समादृत पाया। प्रख्यात कवि शेली लिखता है :—

Our sweetest song are those
that tell of saddest thoughts.

इन्हीं के प्रभाव में आकर तरुण कोमल-कवि पंतने लिखा था :—

वियोगी होगा पहला कवि
आह से उपजा होगा गान।

प्रसिद्ध विश्व-साहित्य-निर्माता श्री रवीन्द्र ने भी आँसुओं को—क्योंकि वे करुणात्मक हैं—प्रधानता दी है।

मानव-जीवन में सुख और दुःख दोनों हैं, और यदि पक्षपात न किया जाय, तो दुःख अधिक और सुख कम। सुख के अभाव और दुःख के आधिक्य से मनुष्य दुःख को ही प्यार करने लगता है। आधुनिक काव्य-साहित्य में दुःख की धारा का कारण कवियों का व्यक्तिगत अनुभव है। कवियों ने युग-युग के इस सत्य को देखा। वे जब्त न कर सके और उन्होंने दुःख के गीत गाए। दुःख में भी सुख की कल्पना कर हँसना विडम्बना नहीं तो और क्या है? कवि इस सत्य को प्रत्यक्ष देखता है और—

"अमर वेदना ही हो मेरे
सकल सुखों का मीठा सार"

—द्विज

गा उठता है।

'प्रसाद'जी से इस धारा का प्रारम्भ समझना चाहिए।

इस करुणा कलित हृदय में
क्यों विकल रागिनी बजती;
क्यों हाहाकार स्वरों में
वेदना असीम गरजती?

इन पंक्तियों के द्वारा भावुक कवि ने करुणा की जो धारा बहाई, वह श्रीमती महादेवी वर्मा की निम्न-लिखित पंक्तियों में पूर्ण व्यक्त हो पाई :—

मैं नीर-भरी दुख की बदली!
विस्तृत नभ का कोई कोना,
मेरा न कभी अपना होना,
परिचय इतना, इतिहास यही
उमड़ी कल थी, मिट आज चली?
मैं नीर-भरी दुख की बदली!

इन पिकों की कोमल पुकार में से दादुरों की टरटराहट भी सुनाई पड़ रही है। रोना स्वयं बुरा नहीं। यदि आँखों में आँसू उमड़ आएँ, तो उन्हें झरना ही चाहिए; पर रोने के लिए रोना, दूसरों को रोते देखकर रोने लगना मातमपुर्सी में मर्सिया गाना है। आँखों में मिर्च डालकर रोनेवाला रोता नहीं, बल्कि रोने का पाखंड करता है। आधुनिक हिन्दी-साहित्य में इस प्रकार के रोनेवालों की कमी नहीं। सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में इस प्रकार के रोने के उदाहरण बहुलता से प्राप्य हैं।

रीतिकाल में कविता शृंगार-विषयक थी। राजाओं के आश्रय में रहनेवाले कवियों ने चाटुकारिता के रूप में उन कामुक नृपतियों की काम-लिप्सा दीप्त करने में अपनी प्रतिभा एवं कुशलता का बलिदान किया। प्राचीन काव्य में भी केवल राजाओं एवं देवोपम गुणधारी मनुष्यों का ही वर्णन मिलता है। जन साधारण कभी काव्य का विषय नहीं रहा था। आज साम्यवाद के प्रभाव में आने के कारण कवि-दृष्टि महलों पर नहीं, बल्कि दरिद्रों की झोपड़ी में जाती है, स्वप्नों का ताना-बाना बुनने के बदले सत्य का दर्शन करती है। युग-युग की तिरस्कृत मानवता आधुनिक काव्य में विस्फोट कर उठी है। हमारे तरुण तपस्वी कवि इसकी आराधना को अर्घ्य-पाद्य ले प्रस्तुत हैं। स्वर्ग-लालसा की कल्पना कवियों को अपनी ओर आकृष्ट नहीं करती, बल्कि आज तो वे कल्पना को भी अपनी धरती की वस्तु बनाने को उद्यत हैं। कवि पुरातन प्रवृत्तियों को छोड़कर सम्पूर्ण जगत् से अपने काव्य का विषय चुनता है। पीड़ित, क्षुधातुर, तिरस्कृत मानवता तो और भी उसके वरदानों की भिखारिणी है। कवि सारी विषमताओं के साथ भी इस संसार को प्यार करता है :—

न्यौछावर स्वर्ग इसी भू पर
देवता यही मानव शोभन।—पन्त

मानवता प्रताड़ित और लांछित है। सभ्यता ही बंधन हो उठी है। पुण्य पाप और अभिशाप वरदान हो उठा है। अत्याचार रोज़ का व्यापार है। मानवता का यह करुण उपहास कवि सहन नहीं कर सकता :—

आह! सभ्यता के प्रांगण में आज गरल वर्षण कैसा
घृणा सिखा, निर्वाण दिखानेवाला यह दर्शन कैसा
स्मृतियों का अन्धेर! शास्त्र का दम्भ, तर्क का छल कैसा
दीन-दुखी असहाय जनों पर अत्याचार प्रबल कैसा?

आज दीनता को प्रभु की पूजा का भी अधिकार नहीं
देव ! बना था क्या दुखियों के लिए निठुर संसार नहीं ?
धन-पिशाच की विजय, धर्म की पावन ज्योति अदृश्य हुई
दौड़ो बोधिसत्त्व ! भारत में मानवता अस्पृश्य हुई ।

—दिनकर

गरीबी, दीनता और दैन्य मानवता के चिर उपहास रहे हैं। कवि इसकी दशा से द्रवित हो उठता है और उसकी आत्मा छन्दों में कराह उठती है :—

पेट पीठ दोनो मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक
मुट्ठी भर दाने को—भूख मिटाने को
मुँह फटी पुरानी झोली का फैलाता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता ।

—निराला

भारतीय विधवाओं की करुण दशा कवि को अनुतप्त करती है। वह उस समाज को, उस शृंखला को, तोड़-फोड़कर उन्मुक्त होने का अभिलाषी हो उठता है। विधवाओं की करुण-दशा का दिग्दर्शन इन पंक्तियों में अपूर्व है :—

भेद-भाव के दास, धर्म के अविकल साधक ;
विधवाओं के काल और गायों के पालक—
पशुओं पर है दया, मनुष्यों पर है अत्याचार !

—भगवतीचरण वर्मा

नवयौवन की चिता बना कर
आशा - कलियों को स्वाहा कर
मनोरथ की समाधि पर तपस्विनी बैठी निर्जन में

—दिनकर

कवि केवल इन पीड़ितों की पीड़ा, दुःख और द्वन्द्व का वर्णन कर ही चुप नहीं रहता, बल्कि उनके निवारण का भी प्रयत्न करता है। संसार के इस रोदन, कोलाहल के कारण की छान-बीन कर उसकी ओषधि का अन्वेषण करता है :—

जिस व्यथा से रो रहा आकाश यह
ओस के आँसू बहाकर फूल में;
ढूँढ़ती उसकी दवा मेरी कला
विश्व-वैभव की चिता की धूल में।

× × ×

एक पल ठहरे जहाँ जग हो अभय
खोज करता हूँ उसी आधार की।

—'दिनकर'

वह केवल खोज ही नहीं करता, अपितु अपनी आत्मा का सारा रस मानवता पर लुटा देना चाहता है :—

ठहरो अहा मेरे हृदय में है अमृत, मैं सींच दूँगा,
अभिमन्यु - जैसे हो सकोगे तुम,
तुम्हारे दुःख मैं अपने हृदय में खींच लूँगा।

—'निराला'

आधुनिक हिन्दी-काव्य की अस्पष्टता के प्रति लोग स्वभावतया अत्यन्त रुष्ट रहे हैं और—

कहने का मज़ा तब है जब एक कहे और दूसरा समझे,
अपना कहा जब आप ही समझे तो क्या समझे?

की आवाज़ें आती रही हैं। कुछ ने तो यहाँ तक कह देने का साहस किया कि स्वयं इन काव्यों के रचयिता तक इनका अर्थ स्पष्ट नहीं कर सकते। अस्पष्टता के कारणों पर विचार करना सामयिक प्रतीत होता है। शब्द भावों के चित्र हैं। चित्र स्वयं पूर्ण नहीं होते। चित्र का कार्य वास्तविक वस्तु का संकेत-मात्र कर देना है। अब चित्र देखनेवाले का कर्त्तव्य है कि संकेतों द्वारा अभिव्यक्त चित्र की भावना को हृदयंगम करे। चित्र देखनेवाले की संकेत समझनेवाली बुद्धि के अभाव में चित्र का महत्त्व कम नहीं होता, बल्कि उसकी मतिमंदता अवश्य प्रकट होती है। विशेषतः जब चित्र भी अमूर्त का हो, तब तो इसकी अस्पष्टता और बढ़ जाती है। भावनाओं के चित्र सूक्ष्म और सहज अबोधगम्य अवश्य होंगे। इसका यह अर्थ नहीं कि काव्य में 'प्रसाद गुण' की आवश्यकता ही नहीं, बल्कि यह है कि अस्पष्टता अस्पृश्य नहीं और इसीके कारण कवियों को शासन-दण्ड देना अविवेक और अपरिपक्व विचार-धारा का परिणाम ज्ञात होता है। कला में अस्पष्टता

का स्थान अवश्य रहेगा। नग्नता सुन्दरता का परिचायक नहीं, वह तो असभ्य मनोवृत्ति का द्योतक है। प्रकृति के पुजारी महाकवि वर्डसवर्थ ने प्रसिद्ध 'लूसी' सम्बन्धिनी कविताओं में सौन्दर्य का वर्णन किया है :—

A voilet by a mossy stone
Half hidden from the eye

कविता की दूसरी पंक्ति में उन्होंने सौन्दर्य का आदर्श रखा है। वास्तविक कला में अस्पष्टता आवश्यक है; किन्तु स्वाभाविकता हाथ से नहीं जानी चाहिए। केवल अस्पष्टता के लिए लिखना काव्य नहीं, बल्कि पहेली-बुझौवल है। अस्पष्टता का दूसरा कारण यह है कि कवि अपनी कल्पना और चिन्तना-शक्ति के सहयोग से किसी वस्तु का निरूपण करता है। वह विचार-धारा की पहली लड़ी और परिणाम तो दे देता है किन्तु बीच की विचारधारा और माध्यमता को छोड़ देता है। यह त्याग ऐच्छिक अथवा स्वाभाविक दोनों प्रकार का हो सकता है। इस प्रकार इस श्रेणी की कविताएँ पाठक के लिए अस्पष्ट हो जाती हैं। अन्तिम तथा निकृष्ट प्रकार की अस्पष्टता विचारों की अपरिपक्वता तथा अनियमितता है। यह प्रलाप के अतिरिक्त और कुछ नहीं। प्रलाप की असम्बद्धता इसमें वर्तमान रहती है। आधुनिक हिन्दी - साहित्य में इस निम्न-कोटि की अस्पष्टता का अभाव नहीं, किन्तु कौवों की उपस्थिति से पिकों का सम्मान नहीं घटता।

हिन्दी काव्य का मध्य-युग था 'भक्ति-काल'। भक्ति के आलम्बन कृष्ण और राम थे। राम की आदर्शवादिता रसिक साहित्यिकों को पसन्द न आ सकी, फलतः राम-काव्य का निर्माण प्रचुर मात्रा में नहीं हुआ। कृष्ण की रसिकता ने कवियों की शृंगार-प्रवृत्ति को तृप्त तथा राधा-कृष्ण के प्रेम की शृंगारिक भक्ति का श्रीगणेश किया। कबीर आदि सन्तमत के कवियों ने निराकार ब्रह्म की उपासना पर जोर दिया; किन्तु आभिजात्य वर्ग इस पथ पर नहीं चल सका। सूरदास ने स्पष्ट लिख दिया है कि निराकार को 'अगम, अगाध' समझकर ही 'सूर सगुन लीला पद गावे'। तुलसी और सूर के राम-कृष्ण भी अव्यक्त के व्यक्त रूप हैं, भले ही ये काल्पनिक आधार के फल हों। प्रश्न यह उठता है कि क्या सचमुच व्यक्त मानव और अव्यक्त में कोई सम्बन्ध हो सकता है या नहीं, अथवा दूसरे शब्दों में यह कहा जाय कि असीम का साधना सम्भव है या नहीं? असीम की सीमा-हीनता तथा सीमित का सीमा-बंधन इस साधना या सम्बन्ध के विरोधी हैं। व्यक्त के भी

दो रूप होते हैं—प्रथम उसका स्थूल रूप तथा दूसरा उसका प्रतीकत्व अथवा अव्यक्त रूप, जिसका वह प्रतिनिधित्व करता है। सौन्दर्यशील वस्तुओं में सौन्दर्य निहित समझा जाता है। सुन्दर वस्तु उस सौन्दर्य का प्रतीकत्व करती है। उस स्थूल रूप का त्याग कर अन्तर्स्थित सौन्दर्य की अनुभूति कठिन होकर भी असम्भव नहीं। फूल झड़ते हैं, पत्र झड़ते हैं, निर्झर सूखते हैं; किन्तु सौन्दर्य की भावना नष्ट नहीं होती। सृष्टि अव्यक्त का व्यक्त रूप है। यह अव्यक्त इसके मूल में व्यक्त है। सौन्दर्य के अव्यक्त (abstract) रूप की भाँति सत्तात्मक अव्यक्त की साधना कठिन होते हुए भी असम्भव नहीं। आचार्य शुक्ल ने अव्यक्त की जिज्ञासा सम्भव तथा प्राप्ति-लालसा असम्भव बतलाई है। जिज्ञासा तो इस अव्यक्त के प्रति प्रेम का प्रथम सोपान है, क्योंकि जाने-पहचाने बिना श्रद्धा की जा सकती है, प्रेम नहीं। जिज्ञासा के पश्चात् स्वभावतः उसकी प्राप्ति की लालसा होती है। वह उसे अत्यन्त निकट और समीप पाता है। सामीप्य और सान्निध्य का आनन्द प्राप्त करता है :—

अरे अशेष ! शेष की गोदी तेरा बने बिछौना-सा,
आ मेरे आराध्य ! खिला लूँ, मैं भी तुझे खिलौना-सा;

—माखनलाल चतुर्वेदी

बढ़ते-बढ़ते सामीप्य और सान्निध्य एकात्मता में परिणत हो जाते हैं। सान्त और अनन्त, साधक और साध्य तथा प्रेमी और प्रियतम मिलकर एक हो जाते हैं। स्फुलिंग अग्नि में मिलकर अग्नि बन जाता है। फिर तो—

प्रीतम को पतिया लिखूँ, जो कहीं होय विदेस;
तन में मन में नैन में ताको कहाँ सन्देस।

—कबीर

और—

सबके पिय परदेस बसत हैं लिख-लिख भेजें पाती ;
मोरा पिया हिरदय में बसता, गूँज करूँ दिन-राती।

—मीरा

का अद्वैत-भाव आता है। साधक और साध्य, साध्य और साधक का भेद मिट जाता है:—

मैं मिटी निस्सीम प्रिय में
वह गया बँध लघु हृदय में।

—महादेवी वर्मा

'अव्यक्त की साधना' के पोषकों में कुछ ऐसे कवि भी हैं, जिनमें सत्य का अभाव है। यह तो बाढ़ का युग है, समय आने पर सारी मलिनताएँ स्वयं दूर हो जायँगी।

अतीत माता, वर्तमान कलह-प्रिया स्त्री तथा भविष्य सन्तान की तरह हैं। वर्तमान के युद्धों से त्रस्त स्वभावतः अतीत और भविष्य की ओर आकृष्ट होते हैं। अतीत की याद सुख और शान्ति देती है तथा प्रगतिशील होने की प्रेरणा भी। अतीत के ध्वंसावशेष पर ही भविष्य का निर्माण होता है। अतः वर्तमान युग के काव्य में 'अतीत-प्रेम' पूर्ण रूप से लक्षित हुआ है। प्रताप, शिवा, अकबर, रणजीत, सिराज और शेर अतीत युग के होने पर भी आज अतीत नहीं हैं। पाटलिपुत्र और वैशाली के खँडहर मूक पाषाण न रहकर चेतना के प्रतीक हो गए हैं :—

मत कह क्या-क्या हुआ यहाँ इस वैशाली के आँगन में।

—मनोरंजन

तथा—

विजयी चन्द्रगुप्त के पद पर
सैल्यूकस की वह मनुहार
तुझे याद है? देवि! मगध का
वह विराट उज्ज्वल शृंगार।

—दिनकर

नूरजहाँ की समाधि देख कवि की आँखें गीली और आर्द्र हैं। वह सौन्दर्य, वह वैभव, क्या मिटने के लिए ही बना था?—

ऐ रजकण के ढेर तुम्हारा है विचित्र इतिहास;
तुम मनुष्य की उन अभिलाषाओं के हो उपहास।

—भगवतीचरण वर्मा

अथवा—

बुन्देले हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी;
खूब लड़ी मरदानी वह तो झाँसीवाली रानी थी।

—सुभद्राकुमारी चौहान

साहित्य समाज का प्रतिनिधित्व करता है या समाज साहित्य का अनुकरण, यह इस लेख का विषय नहीं; किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि दोनों का सम्बन्ध अविच्छेद्य है, और दोनों एक दूसरे के प्रभाव से

बच नहीं सकते। भारतीय इतिहास में यह 'राष्ट्रीय युग' है। राष्ट्रीयता का भाव भारत में सर्वप्रथम इसी समय उत्पन्न हुआ। हिन्दी के कवि इस प्रवाह से न बचे और राष्ट्रीय काव्य की सृष्टि हुई। मातृभूमि और बलिदान के भाव से काव्य-जगत चमत्कृत हो उठा :—

तरुण तपस्वी आ तेरा
कुटिया में नव स्वागत होगा।
दोषी! तेरे चरणों पर फिर
मेरा मस्तक नत होगा।

—माखनलाल चतुर्वेदी

है अपूर्व यह युद्ध हमारा, हिंसा की न लड़ाई है
नंगी छाती की तोपों के ऊपर विकट चढ़ाई है
तलवारों की धार मोड़ने गर्दन आगे आई है
सिर की मारों से डण्डों की होती यहाँ सफाई है।

—नेपाली

वस्तुओं के स्थूल रूप का वर्णन करने में कल्पना एक सीमा तक संकुचित हो जाती है और उसका प्रसार नहीं होता। स्थूल के सूक्ष्म वर्णन में कल्पना की ही प्रधानता रहती है। आगे दिखलाया जा चुका है कि आधुनिक कवियों ने स्थूल-वर्णन का त्याग किया है। स्थूल आधार अवश्य है पर वर्ण्य-विषय नहीं। वह सूक्ष्म के प्रतीकत्व तक ही अपेक्षित है। अतः आधुनिक काव्य में कल्पना का प्रमुख स्थान है। काव्य-धारा इस प्रकार भावना-प्रधान हो गई और भावुकता को प्रश्रय मिला है। कल्पना और भावुकता के सम्बन्ध से एक नवीन सौन्दर्य की सृष्टि हुई। कल्पना एक तो स्वयं आनन्द-निर्झर है और फिर भावुकता तथा आत्माभिव्यंजन के साथ मिलकर स्थायी लोकोत्तरानन्द की विधायिका हुई।

आधुनिक विचारों की दृष्टि से प्रत्येक मनोविकार के मूल रूप में यौन-वृत्ति ही प्रकाश पाती है। शृंगार-रस का स्थायी-भाव रति इस प्रकार मानव-हृदय का सर्वप्रधान भाव है। रीतिकाल में यही सर्वप्रधान हो उठा था। प्रतिक्रिया अवश्यम्भावी थी। आधुनिक कवियों ने शृंगार का त्याग करना चाहा; किन्तु शृंगार उन्हें त्याग न सका। शृंगार की आत्मा मनुष्य की आत्मा में घुल-मिल गई है। प्राचीन-काल में शृंगार के नाम पर वीभत्स-व्यापार-निदर्शन तथा शिष्टता-शालीनता- श्लीलता का त्याग किया गया।

आधुनिक कवि शृंगार को छोड़ नहीं सके; किन्तु उन्होंने उसका रूप परिवर्तित अवश्य कर दिया। शृंगार के आलम्बन राधा और कृष्ण न रह गए। राधा-कृष्ण-लीला के नाम पर काम-लिप्सा तृप्त करनेवाली प्रवृत्ति बदल गई और कवियों ने आत्म-प्रकाश के रूप में इसका और स्पष्ट वर्णन किया है। संसार की दृष्टि में साधु बनने के लिए इसे वे छिपाते नहीं हैं :—

क्या किया मैंने नहीं जो
कर चुका संसार अब तक?
वृद्ध जग को क्यों अखरती—
है क्षणिक मेरी जवानी?
मैं छिपाना जानता तो
जग मुझे साधू समझता,
शत्रु मेरा बन गया है
छल-रहित व्यवहार मेरा।

—बच्चन

हिन्दी-काव्य में इसके बाद की प्रवृत्ति 'हालावाद' के रूप में आई है। उर्दू-साहित्य हाला-प्याला, साकी-सागर, चमन-बुलबुल और बुत-बिरहमन के वर्णनों से पूर्ण है। हाला की यह धारा इसी साहित्य से आई है। उमर-खैयाम की रुबाइयों का इस प्रवृत्ति में बड़ा हाथ रहा है। 'हालावादी' अधिकांशतः इसे आध्यात्मिक रंग में रँगते हैं। समालोचकों ने इस प्रवृत्ति की कटु आलोचनाएँ की हैं। यह सत्य है कि अधिकांशतः हाला की मादकता, आध्यात्मिक हाला के बदले शीराज़ी के प्रशंसक हैं। इस प्रवृत्ति के विशेष उन्नायक नवयुवक कवि ने लिखा है :—

क्षीण, क्षुद्र, क्षणभंगुर, दुर्बल
मानव मिट्टी का प्याला,
भरी हुई है जिसके अन्दर
कटु मधु-जीवन की हाला,
मृत्यु बनी है निर्दय साकी
अपने शत-शत कर फैला;
काल प्रबल है पीनेवाला
संसृति है यह मधुशाला।

हाला के समर्थक होने का कारण 'बच्चन' जी इन पंक्तियों में देते हैं :—

मुस्करा कठिनाइयों—
आपत्तियों को दूर टाला,
धैर्य रखकर संकटों में
खूब अपने को सँभाला,
किन्तु जब पर्वत पड़ा आ
शीश पर मैं सह न पाया,
जब उठा हो भार जीवन
तब लगाया होठ प्याला
व्यर्थ कर दिन-रात निन्दा
विश्व ने जिह्वा थकाई
था बहाना एक मन-
बहलाव का मधुपान मेरा।

हमने सम्भवतः संक्षेप में वर्तमान हिन्दी-काव्य की विशिष्ट प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न किया है। उपर्युक्त प्रवृत्तियों का सम्बन्ध वर्ण्य-विषय से है, वर्णन-विधान से नहीं। वर्णन-विधान की प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन हम अन्यत्र कराने का प्रयत्न करेंगे।

[विशाल भारत : जून, १९३८]

वर्णन-विधान की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ

भाषा-शास्त्रियों का मत है कि प्रथम-प्रथम संकेत-लिपियों का आविर्भाव हुआ तथा भिन्न-भिन्न वस्तुओं के संकेत के लिए अलग-अलग चिह्नों के आवश्यकतानुसार निर्माण हुए। भाषा की यह संकेत-प्रियता चीनी भाषा में आज भी वर्तमान है, जिसके कारण उस भाषा पर अधिकार प्राप्त करना किसी के लिए भी अत्यन्त कठिन हो रहा है। धीरे-धीरे वे चिह्न उन वस्तुओं के संकेत से अलग होकर परिवर्तित रूप में 'वर्ण' बन गए और वस्तुओं के बदले ध्वनियों के संकेत बने। इस प्रकार ध्वन्यात्मक संकेतों के सहयोग से वस्तुओं एवं क्रिया-कलापों के चित्र मानस-पटल पर उतरने लगे।

शब्द वस्तु और क्रिया के भावों के चित्र हैं और ध्वनि उनका आधार। परिचय की अधिकता एवं न्यूनता के अनुसार उनके भावों के चित्र व्यक्त करनेवाले शब्दों के द्वारा शीघ्र, स्पष्ट अथवा अन्यथा मानस के सचेतन प्रदेश में अंकित होंगे। कालिदास-प्रणीत 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' में शकुन्तला का भिन्न अर्थ में प्रयोग होने पर भी बालक भरत के मानस में उसकी माता शकुन्तला का ही चित्र प्रत्यक्ष होता है, क्योंकि 'शकुन्तला' शब्द के साथ उसकी माता का चित्र संश्लिष्ट था।

शब्द भावों के चित्र हैं और काव्य भावों का संगीतमय व्यक्तीकरण। इस प्रकार भावों के रागात्मक चित्र का ही नाम काव्य है। प्रारंभिक अवस्था में काव्य के वर्णन-विधान का सम्बन्ध शब्द और राग से है। काव्य में अलग-अलग शब्दों की कोई सत्ता नहीं। जिस प्रकार ताल और स्वर के संयोग से राग-सौन्दर्य की रक्षा एवं वृद्धि होती है, उसी प्रकार शब्दों के अपनी स्वतन्त्र सत्ता छोड़कर एकात्मकता ग्रहण करने में भावों की रक्षा और भाषा की सौष्ठव-वृद्धि

होती है। यदि भिन्न-भिन्न शब्द स्वतन्त्र चित्रों का समूह प्रकट करें, तो चित्रों में स्पष्टता नहीं रहती, और वे एक साथ संघटित न होकर विभ्रम की सृष्टि करते हैं।

भिन्न-भिन्न भाषाओं की शब्द-शक्ति में भी अन्तर रहता है। कुछ भाषाएँ स्वतः कोमल और कुछ कर्कश होती हैं; कुछ में समतल देश-स्थित स्निग्ध प्रवाहिनी नदी का स्थिर-गम्भीर प्रवाह रहता है और कुछ में पहाड़ी स्रोतों का खर-निनाद। कुछ भाषाएँ लचीली होती हैं; और कुछ परुष और दृढ़। यहाँ तक कि एक ही भाषा के पर्यायवाची शब्दों की शक्ति में भी अन्तर रहता है। उदाहरणस्वरूप 'शिव' और 'रुद्र' पर्यायवाची शब्द हैं; किन्तु है इनके अर्थ में विशाल अन्तर—एक का अर्थ है मंगलकारी और दूसरे का विनाशकारी। अर्थ के अतिरिक्त शब्दों के संगीत में भी अन्तर है। लचीली भाषाओं में भावना और कल्पना के प्रसार और संकोच के लिए पर्याप्त स्थान रहता है; पर परुष और दृढ़ भाषाओं में नहीं। अतः पहली भाषा की आत्मा नाद-शक्ति के अनुकूल पड़ती है और दूसरी की प्रतिकूल; एक भाव को गति प्रदान करती है और दूसरी अवरोध प्रस्तुत करती है; एक भाव की अनुगामिनी होती है और दूसरी स्वतन्त्र तथा भाव को घसीटनेवाली।

काव्य-साहित्य की उन्नति-अवनति में भाषा की स्वाभाविक शक्ति का अन्यतम स्थान है। भाव आत्मा है और भाषा शरीर; अनुकूल भाषा के अभाव में भाव का यथेष्ट व्यक्तीकरण नहीं होता। विधान कला है और भाव कला का नित्य स्वरूप। प्रकृति और कला का समन्वय मानवता का चरम लक्ष्य रहा है। अन्य ललित कलाओं में भावों का व्यक्तीकरण उनके शुद्ध रूप में नहीं होता। चित्र में भाव की स्वरूपता तो आती है; पर प्रसार और संकोच की आधारभूत गत्यात्मक प्रकृति नहीं। संगीत में ताल और स्वर की सीमा में बँधकर भाव अपनी स्वरूपता नष्टकर 'शालग्राम' बन बैठते हैं, क्योंकि संगीत ताल और स्वर के अधीन है, भाव के नहीं। वहाँ भाव-प्रधानता नहीं, बल्कि राग-प्रियता है। अन्य कलाओं में भावों की सार्वभौमता एवं सर्वांगीणता नष्ट हो जाती हैं। अतः काव्य-पक्ष में भाषा का उच्च स्थान है। भाषा जहाँ भाव का अनुगमन नहीं करती, वहाँ भाव का स्थायित्व चंचल हो उठता है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के विचार से अत्याधुनिक और मध्यकाल के बीच एक और उत्थान का काल आता है, और वह है खड़ी-बोली का पुनरुत्थान-काल। हिन्दी-काव्य का आदि-युग 'वीरकाल' कहा जाता है। वीर-काव्य के लिए

आचार्यों ने परुष भाषा को अपेक्षा बतलाई। टवर्ग, अनुस्वार, संयुक्त एवं द्वित्व वर्णपूर्ण डिंगल भाषा इसके लिए अधिक उपयुक्त सिद्ध हुई। रस-विरोध एवं स्वाभाविक गति के प्रतिकूल पड़ने के कारण अन्य रसों की रचनाएँ इस प्रकार की भाषा में अत्यल्प हुईं, और उनका कोई महत्त्वपूर्ण स्थान भी नहीं। मध्यकालीन काव्य राधा कृष्ण के शृंगारोत्तेजक हाव-भाव, विरह-मिलन एवं आलिंगन-चुम्बन के वर्णन से पूर्ण हैं। इन लीलाओं का आधार आध्यात्मिक अवश्य था--कारण कृष्ण परमात्मा के षोड़श कला-अवतार तथा राधा प्रकृति की प्रतीक हैं; किन्तु उस आध्यात्मिक आधार का जितना दुरुपयोग-वैष्णव साहित्य में हुआ, वैसा अन्यत्र नहीं। व्रजभाषा लचीली भाषा है। इसमें आवश्यकतानुसार शब्दों के रूपान्तरित होने के कारण संगीत रक्षा का पूर्ण विधान है। भाषा कोमल होने के कारण कोमल भावनाओं एवं क्रिया-कलापों के वर्णन के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध हुई। व्रजभाषा 'स्कूल' के कवियों की शृंगार-प्रियता के मूल में भाषा की स्वाभाविक गति का भी बड़ा हाथ है। भूषण के वीर-काव्य के उपयुक्त बनने के लिए इसे भी अपनी कोमलता को अन्य प्रान्तीय भाषाओं की परुषता से परिवर्तित करना पड़ा।

मध्ययुग के अन्त में गद्य की भाषा का संगठन एवं गद्य और पद्य की भाषाओं में व्यवधान उपस्थित हुआ। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र सीमा-विभाजक ज्ञात होते हैं! इनके गद्य की भाषा खड़ी-बोली तथा पद्य की मुख्यतया व्रजभाषा है। शुभचिन्तकों ने व्यवधान को दूर किया, और इस प्रकार गद्य और पद्य की भाषाओं में सामंजस्य उत्पन्न हुआ। खड़ी बोली का आधार संस्कृत-साहित्य और उर्दू तथा अन्य भाषाओं का प्रभाव है। इस प्रकार हिन्दी-भाषा कई भाषाओं की समष्टि से बनी। मूल में संस्कृत-साहित्य के होने के कारण उसकी कोमलता के साथ नियम-बद्धता भी आई। पहले उत्थान काल के कवियों को भाषा की स्वरूप-स्थिरता के कारण कठिनाइयों का सामना तथा भाषा और भाव की अभिव्यक्ति के लिए बौद्धिक व्यायाम करना पड़ा। व्याकरण के नियमों में जकड़े रहने के कारण ध्वनिसौन्दर्य-निर्वाह में कठिनता आने लगी और उन्हें संगीत-निर्वाह के लिए बन्धनों को कहीं-कहीं ढीला करना पड़ा। जैसे--'मम सदन बहाता स्वर्ग-मंदाकिनी था' (प्रिय-प्रवास) में सदन के बाद अधिकरण की विभक्ति छोड़ दी गई है। 'सहसा उसने पकड़ लिया कृष्णा के कर को' अप्राणिवाचक कर्म के साथ अनावश्यक विभक्ति का प्रयोग है। इस स्थल पर हमारा उद्देश्य व्याकरण-सम्बन्धी अशुद्धियों का दिग्दर्शन नहीं, अपितु भाषा की स्वाभाविक शक्ति का विचार करना है-

प्रारम्भिकाल में खड़ी बोली अपना रास्ता साफ कर रही थी, अतः उसकी कोई स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं मिलती। गद्य और पद्य की भाषाओं को अन्विति के समर्थकों ने बोधगम्यता एवं सरलता पर अधिक ध्यान दिया। काव्य भाषा की स्वाभाविक गति का अनुसरण कर ही सफल हो सकता है। उसकी गति में व्यतिक्रम होने से स्वाभाविकता नष्ट हो जाती है और एक साहित्यिक विडम्बना का सूत्रपात होता है। खड़ी-बोली में न ब्रजभाषा की कोमलता है और न डिंगल की परुषता ही। साफ-सुथरी, कटी-छटी भाषा है। 'पिय' की कोमलता की रक्षा 'प्रिय' में न हो सकी; ब्रजभाषा के 'कान्ह' कृष्ण-रूप में शृंगार के प्रतीक न होकर पांचजन्य-धारी हो गए। उसमें स्वरूप-निश्चितता तो आई; किन्तु मधुरता न आ सकी। 'प्रिय' के उच्चारण में वाचिक तन्तुओं (vocal cords) को विशेष व्यायाम करना पड़ता है, अतः उच्चारण का लचीलापन न रह सका। इस भाषा की प्रवृत्ति किसी रस-विशेष के अनुरूप न होने के कारण वर्णनात्मक है, और इस प्रकार के काव्य-निर्माण में यह सफल भी हुई।

युग-युग तक चलती रहे कहानी
'रघुकुल में भी थी एक अभागी रानी'
निज जन्म-जन्म में सुने जीव यह मेरा
'धिक्कार उसे था महा स्वार्थ ने घेरा।'

—मैथिलीशरण गुप्त (साकेत)

स्वाभाविक गति होने के कारण प्रवाह उत्तम और वर्णन सजीव है। कवि-कर्म वर्णन से ही सन्तुष्ट नहीं होता, बल्कि भावना-पक्ष की ओर भी झुकता है। खड़ी बोली की स्वाभाविक गति भावना-पक्ष के अनुकूल न थी। काव्य के शुभचिन्तकों ने ऐसी अवस्था में अन्य भाषाओं के सहयोग से इसकी भावुकता को उत्तेजित करना चाहा। एक तरफ संस्कृत का ललित-साहित्य था और दूसरी तरफ उर्दू की फसाहत। एक ओर 'ललितलवंगलतापरि-शीलनकोमलमलयसमीरे' था और दूसरी ओर 'बादे सबा और नसीमे सुबह'। संस्कृत की ओर आकृष्ट होनेवालों ने भावना के साथ बुद्धि का सामंजस्य उपस्थित करना चाहा और उर्दू की ओर आकृष्ट होनेवालों ने भाषा की सफाई और बाँकपन के साथ हाला, प्याला, साकी, बुलबुल और चमन को अपनाया। सांस्कृतिक ऐक्य के कारण संस्कृत का साहचर्य गाम्भीर्य और लालित्य का अग्रदूत तो हुआ, किन्तु दुरूहता और अस्पष्टता भी आई।

यौवन की मांसल, स्वस्थ गन्ध,
नव युग्मों का जीवनोत्सर्ग !
आह्लाद अखिल, सौन्दर्य अखिल !
आः प्रथम प्रेम का मधुर स्वर्ग !

—पन्त (युगान्त)

लालित्य और गाम्भीर्य के साथ मांसल, युग्म, आह्लाद इत्यादि के कारण भाषा में दुरूहता एवं 'यौवन की मांसल, स्वस्थ गंध' तथा 'युग्मों का जीवनोत्सर्ग' के कारण अस्पष्टता आई। कुछ लोगों का मत हो सकता है कि इसका सम्बन्ध अभिव्यंजना से है, भाषा से नहीं; पर भाषा और अभिव्यंजना में घनिष्ठ सम्बन्ध है; क्योंकि भाषा के द्वारा ही भावों की अभिव्यक्ति होती है।

उर्दू की अभिव्यंजना-शैली से प्रभावित होनेवाले काव्य में भाषा के सौष्ठव तथा लालित्य तो आए, लेकिन भावना और बुद्धि के सामंजस्य-निर्वाह की ओर लोगों की दृष्टि न रही, और असम्बद्धता का दोष आ गया। यह प्रत्यावर्तन संस्कृत की जटिलता के विरोध-रूप में उपस्थित हुआ है, और लोग सरलता और प्रासादिकता की दिशा में आकृष्ट हो रहे हैं। हिन्दी-हिन्दुस्तानी का कोई रूप अभी निश्चित नहीं हुआ है। कुछ लोग उर्दू के शब्दों की ठूँस-ठास को ही हिन्दी-हिन्दुस्तानी का आदर्श समझते हैं। हम किसी भी भाषा के शब्दों का प्रचलन अवांछनीय नहीं समझते। कारण, दूसरी भाषा के शब्द पचाने की शक्ति रखना ही जीवित भाषा का लक्षण है, किन्तु हिन्दी को स्वाभाविक-प्रवृत्ति का अनुसरण होना चाहिए, अन्यथा एक अनर्थसंयुक्त वितण्डावाद का श्रीगणेश होता है।

कितने शाह नवाब ज़मीं में समा चुके हैं याद।

—दिनकर

'जमीं' शब्द का प्रयोग चिंत्य है। उर्दू-भाषा में फारसी के प्रभाव के कारण इस प्रकार के प्रयोग प्रचलित और व्याकरण-सम्मत हैं; किन्तु हिन्दी की स्वरूपस्थिरता में इनके लिए कोई स्थान नहीं। 'जमीं' में आकर संगीत का प्रवाह रुक-सा जाता है। उर्दू में शब्दों का उच्चारण ही प्रधान वस्तु है, रूप नहीं, क्योंकि भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न शब्दों का, रूप एक रहने पर भी, सुविधा के अनुसार उच्चारण में अन्तर आ जाता है। इसलिए वहाँ इस प्रकार के प्रयोगों से व्यतिक्रम उपस्थित नहीं होता; किन्तु हिन्दी का धारा इसके विपरीत है, और इस प्रकार भाषा में अजनबीपन लाकर चमत्कृत करने

का प्रयास शायद उचित नहीं। यहाँ नवीनता के विरोध का प्रश्न नहीं, बल्कि प्रश्न है स्वाभाविक प्रवृत्तियों के अनुसरण का। उर्दू के साधारण शब्दों के मेल से भाषा में जान आती है, और वह उच्च स्तर पर के लोगों की ही चीज न रहकर साधारण जनता को भी वस्तु होती है।

छिना घोंसला बुलबुल फिरती
वन-वन लिए चोंच में तिनका,
आहें उठीं दीन कृषकों की
मजदूरों की तड़प पुकारें,
अरी गरीबी के लोहू पर,
खड़ी हुई तेरी दीवारें।

—दिनकर (रेणुका)

और—

हम दीवानों की क्या हस्ती
हैं आज यहाँ कल वहाँ चले
मस्ती का आलम साथ चला
हम धूल उड़ाते जहाँ चले।

—भगवतीचरण वर्मा (प्रेम-संगीत)

संस्कृत के कठिन शब्दों के पास-ही-पास उर्दू-फारसी के कठिन शब्दों का प्रयोग भाषा की जटिलता कम नहीं करता, अपितु और बढ़ा देता है। कारण एक ही प्रकार के शब्दों को कम-से-कम एक भाषा जाननेवाला तो समझ सकेगा, लेकिन यहाँ तो बात ही उलटी है। जब तक दोनों भाषाओं की जानकारी न हो, समझने में अधिक कठिनाई होगी :—

"गुलचीं निष्ठुर फेंक रहा, कलियों को तोड़ अनल में" जैसे वाक्यों में 'निष्ठुर' और 'अनल' के साथ 'गुलचीं' को चस्पाँ करना भाषा की जटिलता बढ़ाना है, कम करना नहीं।

निश्चय ही छन्दों की सृष्टि के पश्चात् छन्द-शास्त्र का निर्माण हुआ। प्रत्येक साहित्य की प्रारम्भिक रचनाएँ यदि उपलब्ध हों तो इसे सुगमतापूर्वक सिद्ध किया जा सकता है। प्राचीन वैदिक साहित्य में छन्दों की मुक्तता स्पष्ट है। शनैः-शनैः छन्दों में नियमितता लाने की चेष्टा हुई और काव्य को छन्द-बन्धन से जकड़ दिया गया। स्वाभाविक रूप में काव्य की रागात्मक प्रवृत्ति-रक्षा ही छन्द-बन्धन का उद्देश्य था। छन्द संगीत के विशेष लय पर चलते हैं,

अतः छन्द भिन्न-भिन्न गति के हुए, और गति के अनुसार अलग-अलग रसों के उपयोगी हुए। नृत्य का भाव प्रकट करने के लिए झूलना इत्यादि तथा युद्ध का भाव प्रकट करने के लिए शस्त्रों की झंकार के अनुरूप ध्वनित होनेवाले छन्द अर्थात् चंचला, पंचचामर, कृपाण आदि का प्रयोग किया गया। और शृंगार-रस के लिए वसन्ततिलका, करुणा के लिए मालिनी, शान्त के लिए शिखरिणी तथा भयानक के लिए स्रग्धरा आदि छन्द अधिक उपयोगी हुए। आगे चलकर इन बन्धनों के कारण वाह्य संगीत की रक्षा हुई; किन्तु आन्तरिक नाद-सौन्दर्य की हत्या। कारण, परवर्त्ती कवियों का ध्यान छन्द-बन्धन ही पर रहा, उनके उद्देश्य पर नहीं। स्वाभाविकता का विरोध होने के कारण नियमों के चक्कर में पड़कर प्रतिभा की गति रुक जाती है और छन्द तथा तुक के चौखटे में फिट होने के पहले ही भावना उन्मुक्त हो जाती है। नियम-बद्धता की जटिलता के कारण परिवर्तन के रूप में छन्द-बन्धन-त्याग की भावना जाग्रत हुई। इस प्रवृत्ति का उद्गम अमेरिका में है और वाल्ट ह्विटमैन ने स्वच्छन्द छन्द में 'घास की पत्तियाँ' (Leaves of grass) शीर्षक काव्य-संग्रह उपस्थित किया। स्वयं अमेरिका में समालोचकों द्वारा यह धारा समादृत न हो सकी। भारत में तरुण कवियों ने इसे अपनाने में सुविधा देखी।

शास्त्रीय छन्दों के पोषक कहते हैं कि प्राचीन कवियों ने छन्दोबन्धन में बँधे रहकर भी जैसा लिखा आधुनिक कवि उनका त्याग करके भी वैसा नहीं लिख पाते। विचारणीय विषय यह है कि इस प्रकार की कविताएँ सफल हो सकेंगी अथवा नहीं। संगीत-कला स्वयमेव बन्धनपूर्ण है। स्वर, लय और गति के समन्वय से ही संगीत मूर्तिमान हो उठता है। साधारणतः छन्द-बन्धन त्याग करनेवाले कवियों द्वारा यह कहा जाता है कि कोयल का गाना बन्धन-हीन होकर भी प्रिय लगता है; किन्तु यह सदा ध्यान रखना उचित है कि कोयल का गीत भी एक विशेष गति से चलता है। काव्य में संगीत-रक्षा के पक्षपातियों को भी यह न भूलना चाहिए कि संगीत में मात्राओं का प्रसार अत्यन्त सुगम है, और गवैया सुगमता के लिए मात्राओं को घटाता-बढ़ाता है। ह्रस्व वर्ण गुरु वर्ण का तथा गुरु वर्ण ह्रस्व का भी कार्य करते हैं, वैसी सुगमता काव्य को प्राप्त नहीं, अतः संगीत का यह संगीतात्मक स्वाभाविकता काव्य में आकर अपना स्वरूप खो देगी।

छन्द-बन्धन की सीमा में रहकर जिन लोगों ने कविता की, वे महाकवि थे अवश्य, किन्तु बाह्य समता की रक्षा के लिए जितनी प्रतिभा और परिश्रम का अपव्यय हुआ, वह वांछनीय नहीं। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि छन्द-बन्धन

और तुकों का बहिष्कार किया जाय अपितु यह है कि इन्हें स्वाभाविक गति पर चलने दिया जाय और विशेष धारा के रूप में इसके चलने में विरोध न उपस्थित किया जाय। धीरे-धीरे इसका अजनबीपन संस्कार-बद्ध होकर स्वयं नष्ट हो जायगा। शास्त्रीय और स्वच्छन्द छन्द की परस्पर विरोधिनी भावनाओं के मिलन से भिन्न-भिन्न प्रकार के नवीन छन्द उद्भूत हुए। इनके तीन रूप हुए—शास्त्रीय, संकर छन्द और स्वच्छन्द। प्राचीन कालीन हिन्दी काव्य में दोहे, चौपाई, कवित्त, सवैया, छप्पय, कुंडलिया आदि छन्दों का विशेष प्रचार था। 'दोहे'और 'चौपाई' में रामचरितमानस लिखकर गोस्वामी तुलसीदासजी ने इन्हें धन्य कर दिया। महाकवि केशव ने पाण्डित्य प्रदर्शन के लिए अन्य शास्त्रीय छन्दों में रचना की। खड़ी-बोली के उत्थान-काल में कवियों ने इन छन्दों के अतिरिक्तअन्य शास्त्रीय छन्दों को अपनाया। गुप्तजी के कारण 'हरिगीतिका' तथा स्वर्गीय 'शंकर' जी के कारण 'रोला' छन्द विशेष आदृत हुए। इस प्रकार अन्य शास्त्रीय छन्दों का प्रचलन हुआ, यहाँ तक कि समस्या-पूर्ति करनेवालों के अतिरिक्त और कोई उन पुराने छन्दों का प्रयोग नहीं करता। इस प्रवाह में कुछ नए छन्दों की सृष्टि भी हुई और गुप्तजी इसके अग्र दूत हैं।

इन शास्त्रीय छन्दों के अतिरिक्त कुछ मिश्र या संकर छन्दों की भी सृष्टि हुई। इनमें कुछ चरण अन्य छन्द के होते हैं। आज यह प्रवृत्ति पुरानी हो चली। प्रारम्भिक युग में इसका घोर विरोध हुआ, किन्तु धीरे-धीरे विरोध की भावना कम होती गई, और अब तो उसमें निष्क्रियता-सी आ गई है। इस प्रकार के शंकर छन्दों की सृष्टि में पन्तजी पर्याप्त सफल हुए—

हाय! मेरा जीवन,
प्रेम औ,' आँसू के कन।
आह मेरा अक्षय धन,
अपरिमित-सुन्दरता औ' मन।
—पन्त (पल्लव)

प्रथम दो चरण ११ और १३ मात्राओं के योग से रोला छन्द के हैं, किन्तु अन्तिम दो चरण २६ (१३+१३) मात्राओं के। अथच :—

ताक रहे आकाश,
बीत गए कितने दिन—कितने मास;
विरह विधुर उर में न मधुर आवेश।
केवल शेष

क्षीण हुए अन्तर में है आभास
प्रियदर्शन की प्यास
ताक रहे आकाश।

—निराला (परिमल)

इस विषम मात्रिक छन्द में भिन्न-भिन्न छन्दों का मिश्रित रूप दृष्टिगत होता है। वर्त्तमान युग में सोलह और चौदह मात्राओं के सम छन्दों का ही अधिक प्रचलन है:—

मैं फूल कभी था धूल आज
यदि बनूँ मुझे परवाह नहीं;
पर देव, उपेक्षा आज तुम्हा—
री सह पाऊँगा आह नहीं।

—मुक्त (जन्मभूमि, मार्च १९३८)

तथा—

एक सुन्दर मधुर सुधि ले,
आज फिर मधु-पवन डोली,
हृदय में अनुराग भरकर,
कुसुम-दल ने आँख खोली।

—सरस्वती, जुलाई १९३८

गणात्मक होने के कारण वर्णिक छन्द में रचना कठिन है। संस्कृत-साहित्य में वर्णों की सामासिकता के कारण शब्द अपनी स्वतन्त्रता छोड़ काव्य के चरणों में आकर एकात्मता ग्रहण कर लेते हैं, जिससे उनकी श्रुति-मधुरता अधिक हो जाती हो ; किन्तु हिन्दी के शब्द इस गुण से वंचित होने के कारण वह रूप प्राप्त नहीं करते। स्वाभाविक रूप में संस्कृत के वृत्त हिन्दी के उपयुक्त नहीं होते। गणात्मक वृत्त में आकर काव्य को संस्कृत-पद्धति का अनुगमन करना पड़ता है, अन्यथा काव्य का सारा रस चला जाता है और साथ ही-साथ संस्कृत-पद्धति-अनुसरण के कारण दुरूहता आती है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के 'सुरम्यरूपे रसराशिरंजिते विचित्रभरणे···' में इसका स्वरूप लक्षित है। इन वार्ण-वृत्तों की स्वाभाविकता 'प्रिय-प्रवास' में पूर्णरूप से रक्षित हुई है, क्योंकि इस महाकाव्य में संस्कृत की सामासिक पद्धति की भरसक रक्षा की गई है। 'सिद्धार्थ' नामक महाकाव्य इन्हीं वार्ण-

वृत्तों में लिखा गया है। संस्कृत-शब्दों का बाहुल्य होने पर भी स्वाभाविक गति की इसमें रक्षा नहीं हुई है और छन्द पर-कटे कबूतर की तरह भाव-भूमि पर मुँह के बल गिर पड़े हैं।

उर्दू-फारसी के छन्द भी हिन्दी में आने लगे हैं। खैयाम की 'मधुशाला' से प्रभावित होनेवाले कवियों ने उसके छन्द को भी अपनाया। खैयाम ने 'रुबाइयात' लिखा है। इस प्रकार हिन्दी में भी इसका प्रचलन हुआ। रुबाई चार हम-वजन मिसरों (सममात्रिक चरणों) अथवा दो बेत (एक प्रकार का शेर) को होती है।

अपने युग में सबको अनुपम ज्ञात हुई अपनी हाला,
अपने युग में सबको अद्भुत ज्ञात हुआ अपना प्याला,
फिर भी वृद्धों से जब पूछा एक यही उत्तर पाया—
अब न रहे वे पीनेवाले, अब न रही वह मधुशाला!

—बच्चन (मधुशाला)

गज़लों की धुनपर लिखे गये छन्दों का भी प्रवेश हिन्दी में हो गया है। 'दिनकर' ने इस प्रकार के कुछ छन्द लिखे हैं। कवि उर्दू की सफाई से उधर आकृष्ट ज्ञात होता है, कुछ छन्द-विशेषता से नहीं। निराला की रचनाएँ भी गजलों में हो रही हैं।

शास्त्रीय छन्दों की सीमा से परे प्रत्यावर्तन के रूप में आए हुए छन्दों का ही नाम 'स्वच्छन्द छन्द' या 'मुक्त काव्य' है। मुक्त छन्द लय (rhythm) के सहारे चलते हैं और प्रवाह ही इनमें मुख्य हैं। नियम-बाधा-बंधनहीन छन्द ही इस नाम के अधिकारी हैं। इनमें शास्त्रीय छन्दों की टुकड़ियाँ भी कहीं-कहीं मिल जाती हैं; किन्तु उन्हें संयोगवश ही समझना चाहिए। प्रसाद, पंत और निराला—तीनों ने इसका सफल प्रयोग किया है। स्वच्छन्द-छन्द में तुक नहीं मिलते, या कभी-कभी अभ्यासपूर्वक दूर-दूर रखे जाते हैं, जिससे पढ़ने के समय संगीत के 'सम' की तरह स्वरपात उन्हीं पर आकर पड़े। तुकों के साथ हिन्दीवालों का जन्मजात सम्बन्ध होने के कारण अतुकान्त कविता उनके कानों के साथ सहयोग नहीं करता। अतुकान्त मुक्तकाव्य का सारा सौष्ठव पठन-क्षमता के बल पर ही स्थापित है।

तुक नहीं मिलनेवाले छन्द भी दो प्रकार के होते हैं। संस्कृत के गणात्मक वृत्त भी अन्त्यानुप्रास-हीन होते हैं; किन्तु वृत्यात्मक बंधन में बँधे होने के कारण अन्त में स्वरैक्य रहता है। पढ़ने के समय अन्त के वर्णों के

भिन्नता होने पर भी स्वरैक्य के कारण नाद-सौन्दर्य की विशेषता ही प्रकट होती है, उन्हें भिन्न तुकान्तक कहना ही अधिक उपयुक्त होता है, कारण केवल तुकें भिन्न होता हैं। हिन्दी के छन्दों में यदि कवित्त छन्द अंत्यानुप्रास-हीन रहे, तो उसका सौन्दर्य बढ़ जाता है। प्रवाह के कारण कवित्त छन्द के चरणान्त में तुक मिलने से नाद-सौन्दर्य में बाधा पड़ती है। वीर छन्द भी इस प्रकार की कविता के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

अतुकान्त छन्द (blank verse) बँगला के द्वारा हिन्दी में आया। स्वर्गीय 'प्रसाद' जी ने इस प्रकार के छन्दों का सफल प्रयोग किया है। इस तरह के कुछ छन्द तो अनुवाद के रूप में ही आए। पं० रूपनारायण पाण्डेय ने श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'राजा रानी' तथा अन्य ग्रन्थों के अनुवाद में और 'मधुप' (श्री मैथिलीशरण गुप्त) ने माइकेल मधुसूदन दत्त के ग्रन्थों के अनुवाद में इनका स्वरूप-प्रदर्शन किया है। गणात्मक और मात्रिक दोनों गतियों पर चलनेवाले स्वच्छन्द छन्दों की सृष्टि हुई। हिन्दी की स्वाभाविक प्रवृत्ति मात्रिक होने के कारण अतुकान्तक काव्य और स्वच्छन्द छन्द इसी गति पर चलकर सफलता प्राप्त कर सकते हैं।

स्मर शशि किरणें,
स्पर्श करती थीं इस चन्द्रकान्त मणि को
स्निग्धता बिछलती थी जिस मेरे अंग पर।
अनुरागपूर्ण था हृदय उपहार में
गुर्ज्जरेश पाँवड़े बिछाते रहे पलकों के ;
तिरते थे—
मेरी अँगड़ाइयों की लहरों में

—प्रसाद (लहर : प्रलय की छाया)

नूतनता की बाढ़ में कवियों ने इस पथ पर चलने का प्रयास किया; किन्तु हिन्दी-काव्य-जगत में यह लोक-प्रिय न हो सका। इसका कारण भाषा का कठोर-धर्म तथा प्रसारण और संकोचन का अभाव (rigidity) है। बँगला-भाषा ऐसे छन्दों के लिए अधिक उपयोगी है। कारण, संगीत वर्ण-मात्रिक होने के कारण स्वरों के प्रसार में सहज और अनुकूल पड़ता है ; पर हिन्दी में मात्रिक गति होने के कारण यह स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं, जिससे स्वर-बाधा होती है और नाद सौन्दर्य में विशृंखलता आती है।

जहाँ तक छन्दों का सम्बन्ध है, 'गीति-काव्य' पर विचार करना सामयिक प्रतीत होता है। इसी प्रवृत्ति का आज अधिक जोर है तथा पत्र-पत्रिकाओं

में 'गीत' गानेवालों की संख्या थोड़ी नहीं रही। यदि 'गीति-काव्य' अंगरेजी के 'लिरिक्स' (lyrics) का अनुवाद है तब तो कहना पड़ेगा कि हिन्दी का सारा काव्य-साहित्य 'गीति काव्य' (lyric) है। साहित्य-शास्त्रियों ने संगीत और काव्य में ऐसा समन्वय उपस्थित कर दिया है कि संगीत ने अपना प्रसार खोकर काव्य की आत्मा के साथ अन्विति प्राप्त कर ली है। ब्रजभाषा-कालीन काव्यान्तर्गत 'गीत काव्य' राग-रागिनियों के बन्धन के साथ चलते थे। काव्य की स्वतन्त्र सत्ता के साथ संगीतात्मक राग-रागनियों का बन्धन था। छन्द के अनुसार एक छोटी-सी पंक्ति 'टेक' का काम करती थी और अन्य पंक्तियाँ अथवा समपंक्तियों का अंत्यानुप्रास टेक के अनुरूप होता था। 'सूरदास' और 'मीरा' के पद संगीत-शास्त्र की नींव पर निर्मित हैं। आधुनिक 'गीति-काव्य' संगीत की राग-रागनियों के बन्धन के लिए नहीं, अपितु भावना को कुछ अधिक रागात्मक करने का पक्षपाती है। ये भावना-प्रधान लयात्मक काव्य हैं। छन्दों के सम्बन्ध में किसी विशेष शैली की उद्भावना नहीं हुई है। सम्भवतः 'टेक' को किसी छन्द का रखकर अन्य छन्दों की कुछ कड़ियाँ रख दी जाती हैं, और अन्त का अंत्यानुप्रास 'टेक' के अनुरूप तथा समरागात्मक रख दिया जाता है :—

गीत मेरे प्राण के री!
चाँदनी सोती गगन में
तब जगत के शून्य मन में
स्वप्न-सा खिलकर लिखाते
पुष्प-दल वरदान के री!
गीत मेरे प्राण के री!

—प्रभात

काव्य के वर्णन-विधान का विचार करते समय अलंकारों का विवेचन आवश्यक है। अलंकार वर्णन में विशेष चमत्कार लाने के लिए ही प्रयुक्त होते हैं, और इनका कार्य वर्णन को और चमत्कार देना होता है। वास्तव में अलंकार को 'चमत्कारवाद' के अन्तर्गत समझना चाहिए। इनके विषय में यही कहना अलम् होगा कि एकान्त निराभरणता तथा अत्यन्त भूषण-भाराक्रान्त होना ग्रामीणता के परिचायक और कुरुचिपूर्ण हैं। संस्कृत साहित्य में अलंकारवादियों की इतनी प्रधानता बढ़ी कि कुछ समय तक लोग अलंकारों को ही काव्य मानते रहे। अलंकार-हीनता उनकी दृष्टि में काव्य-प्रतिभा-हीनता थी। प्राचीन हिन्दी-काव्य में—

विशेषतः रीतिकाल में—अलंकारों की प्रधानता देखी जाती है। यहाँ तक कि अलंकार-निरूपण के लिए काव्य की रचना होने लगी। अलंकार काव्य के कला-पक्ष की रमणीयता प्रतिपादनार्थ अपेक्षित हैं, अपने निर्माण के लिए नहीं। वर्तमान हिन्दी काव्य ने अलंकारों को उनके अर्थ में ही प्रयुक्त किया है। इस प्रकार नवीन अलंकारों की सृष्टि हुई है। प्राचीन अलंकारों का आभास इनमें अवश्य है; किन्तु प्राचीनता की बाधा नहीं। इस प्रकार के अलंकारों का नामकरण अभी नहीं हुआ है। कारण, यह युग अलंकारों का प्रयोग करता हुआ भी अलंकारों का विरोधी है। इसका यह अर्थ नहीं कि शास्त्रीय और शुद्ध रूप में प्राचीन अलंकारों का निर्वाह आधुनिक काल में नहीं होता। अलंकारों का शास्त्रीय प्रयोग हुआ और होता है और बहुलता से, किन्तु आधुनिक रूप में।

ज्ञान की पुष्टि का मनोवैज्ञानिक आधार साहचर्य है। निश्चित नियमों के आधार पर चलकर साहचर्य ज्ञानोत्कर्ष एवं उसकी प्राप्ति में विशेष सहायक होता है, जिन्हें मनोवैज्ञानिकों की भाषा में साहचर्य के नियम (Laws of Association) कहते हैं। नई अज्ञात वस्तुओं का ज्ञान कराने के लिए ज्ञात वस्तुओं के साथ उनको सम्बद्ध करना पड़ता है, अन्यथा उनका भाव गृहीत नहीं होता। मस्तिष्क के अचेतन प्रदेश-स्थित भावों के साथ नवीन भावों का साहचर्य करा देने से उनको स्मृति तथा भाव शीघ्रता के साथ आवश्यकतानुसार चेतनता प्राप्त करते हैं। भावों के साहचर्य के नियम साधर्म्य, सामीप्य, सादृश्य, सम-कालीनता, समप्रभावोत्पादकता एवं विरोध के अनुरूप चलते हैं। इस प्रकार ज्ञान के विचार से वस्तुओं के दो भेद होते हैं—ज्ञात और अज्ञात; स्थिति के विचार से प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत ; और रूप के विचार से मूर्त और अमूर्त, अथवा स्थूल और सूक्ष्म। भिन्न-भिन्न संयोग एवं संसर्ग के अनुसार भिन्न-भिन्न रूप होते हैं, और शास्त्रीय अलंकारों में रूपक, उपमा, अन्योक्ति, उत्प्रेक्षा आदि के यही आधार रहे। कवियों को उपमा और रूपक सदा विशेष प्रिय रहे हैं, और आज भी हैं। प्राचीन काल में रूप के साधर्म्य और सादृश्य का ही विचार किया जाता था, प्रभाव का क्रम। उपमालंकार में उपमेय और उपमान के साथ धर्म का सम्बन्ध कराकर प्राचीन अलंकार-शास्त्रियों ने साधर्म्य का समन्वय कर दिया; पर प्रभाव का विषय ध्वनि के अन्तर्गत समझा गया। अलंकार के क्षेत्र में व्यंजनावादियों के प्रभाव में आकर वर्तमान कवियों ने एक विशिष्ट प्रवृत्ति का आधार ग्रहण किया। विशेषतः

इनका ध्यान अलंकार की अपेक्षा चमत्कार पर अधिक था; कुछ शब्दों के चमत्कार पर मुग्ध तथा कुछ अर्थगत चमत्कार पर लट्टू हैं; पर दोनों हैं चमत्कारवादी अवश्य। इस स्थान पर चमत्कारिता का वर्णन नहीं, बल्कि अलंकार की नवीनता का प्रश्न है। रूप के अनुसार मूर्त और अमूर्त के आधार पर नवीन कवियों ने सहज विधान किया है :—

पटक रवि को बलिष्ठा पाताल
एक ही वामन पग में
लपकता है तमिस्र तत्काल
धुएँ का विश्व विशाल।

—पंत (पल्लव : आँसू)

'तमिस्र' और 'धुएँ का विश्व विशाल' के रूपकत्व में साधर्म्य एवं सादृश्य दोनों का आंशिक आधार ग्रहण किया गया है। 'तमिस्र' और 'धुएँ' का रंग काला होने के कारण सादृश्य तथा प्रसारित होकर दृष्टि को अक्षम करनेवाले धर्म के कारण साधर्म्य का आधार है। तमिस्र स्वयं अमूर्त है, शीघ्र छा लेनेवाले गुण के कारण कवि ने 'कल्पना' के साथ संघटित कर इसे मनोवैज्ञानिक आधार दिया है। प्रभाववादी वर्ग इसे वर्णनीय विषय से सम्बद्ध मानेगा। किन्तु इसका प्रभाव वर्णन-विधान के अन्तर्गत है। कारण, अमूर्त का मूर्त विधान अभिव्यंजनावाद का विषय है :—

फूलों पर पद रख, कूलों पर रच लहरों से रास,
मन्द पवन के स्यन्दन पर चढ़ बढ़ आया सविलास।
भाग्य ने अवसर पाया री!
मरण सुन्दर बन आया री!

—मैथिलीशरण गुप्त (यशोधरा)

'मन्द पवन के स्यन्दन' में अमूर्त का मूर्त रूप प्रस्तुत है। 'मन्द पवन' अमूर्त है, अतएव 'स्यन्दन' के साथ संघटित करके नवीन विधान किया गया।

वर्णनीय विषय के साधर्म्य का आंशिक आधार लेकर अथवा साधर्म्य के नितान्त अभाव में भी लाक्षणिक प्रयोग हुए हैं। कवि भावना-प्रधान होने के कारण केवल भावनापक्ष का ग्रहण सूक्ष्म साधर्म्य एवं सादृश्य के संयोग से अथवा तद्जनित प्रभाव के कारण संश्लिष्ट कर पाता है। वास्तव में प्रस्तुत और अप्रस्तुत का भेद रह ही नहीं जाता। सादृश्य एवं साधर्म्य के नितान्त अभाव में भी लाक्षणिकता सफल हो जाती है; किन्तु मनोवैज्ञानिक आधार न

मिलने के कारण अमूर्त अपना स्थायी प्रभाव मस्तिष्क के चेतन केन्द्रों में स्थापित नहीं कर पाता। धुँधले और अज्ञेय चित्रों की भाँति भावनाएँ स्वतन्त्र रहकर प्रभावहीन रह जाती हैं।

बंद कंचुकी के सब खोल दिये प्यार से
यौवन उभार ने
पल्लव पर्यंक पर सोती शेफालिके।
मूक-आह्वान भरे लालची कपोलों के
व्याकुल विकास पर
झरते हैं शिशिर से चुम्बन गगन के।

—निराला (शेफालिका)

शेफालिका में संयोगिता नायिका का प्रतीकत्व आरोपित किया गया है। 'नायिका' और 'शेफालिका' में साधर्म्य एवं सादृश्य का आधार नहीं, साधर्म्य के आंशिक प्रभाव का आरोप अवश्य है। भावना को सत्तात्मक रूप देना सरल नहीं। भावना और सत्ता की लाक्षणिकता के विरोध में कल्पना पंखहीन होकर अपना ही अपघात करती है। सफलता कवि की निपुणता की परिचायिका है और असफलता अपरिपक्वता की। इस प्रकार के विधान में कवि की दृष्टि एक स्थान पर केन्द्रित रहती है, और यदि भावना और सत्ता का संश्लिष्ट संयोग हो सका, तो कविता चमक उठती है—

स्वर्णांचला अहा! खेतों में उतरी संध्या श्याम-परी।

—दिनकर (रेणुका)

अमूर्त्त संध्या और श्याम-परी का रूपकत्व भावोन्मेषी तथा स्वर्णांचला का विशेषण कल्पना-विशिष्ट और 'खेतों में उतरना' के साथ उसकी संश्लिष्टता वर्णन का यथार्थ उत्कर्ष प्रकट करती है।

कवि प्रस्तुत का स्थूल रूप देखकर प्रभावित अवश्य होता है; किन्तु उसका आधार ग्रहण नहीं करता। प्रस्तुत की भावनामूलक सत्ता का ही ध्यान करता है। प्रस्तुत वस्तु से भिन्न उसकी सूक्ष्म सत्तात्मक अनुभूति ही कवि का विषय है, उसका स्थूल रूप नहीं। प्रत्येक वस्तु इस प्रकार के कवि के अनुसार किसी अन्य सूक्ष्म सत्तात्मक भावना का निर्देश करती है। प्रतीकवाद (Symbolism) के मूल में प्रस्तुत की सूक्ष्म भावना ही कार्य करती है।

ये कथा जानिते तुमि, भारत-ईश्वर साजाहान,
कालस्रोते भेसे जाय जीवन यौवन धन मान।

शुधु तव अन्तर वेदना
चिरन्तन हये थाक सम्राटेर छिल जे साधना।
राजशक्ति वज्र सुकठिन
सन्ध्यार रागसम तन्द्रातले हय लोक लीन,
केवल एकटि दीर्घ श्वास
नित्य उच्छ्वसित हये सकरुण करुक आकाश
एइ तव मने छिल आश।

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर (ताजमहल)

कवि के समक्ष ताजमहल संगमरमर का बना गृहनिर्माण-कला का आदर्श ही नहीं, बल्कि सम्राट् शाहजहाँ की चिरन्तन साधना और भावना का प्रतीक है। पाषाण के अतिरिक्त वह सूक्ष्म भावनाओं का प्रतीकत्व करता है। पाषाण का सम्बन्ध तो केवल भावना के स्फुरणमात्र से है। हिन्दी का कवि इसी विषय पर लिखता है—

कालपृष्ठ पर लिखे हुए तुम
अमर काव्य हो अय पाषाण!
शब्दहीन संगीत तुम्हारा
सुन रो उठते मेरे प्राण!

जिस प्रकार कागज पर लिखे हुए शब्द काव्य का प्रतीकत्व करते हैं, उसी प्रकार शुष्क पाषाण अमर काव्य का प्रतीकत्व करते हैं।

बोल-बोल क्यों मौन
स्वप्न-सी; छाया-सी; सुषमा-सी;
कवि की सुखद कल्पना-सी;
मुस्कान और उपमा-सी?
सुरसरि की तरंगमाला पर,
नृत्यमान शशि-कर-सी
जीवन की गति-सी, नीरव
रोदन-सी अचल अधर-सी।

—वियोगी

चित्र का अमूर्त्त रूप कवि का वर्ण्य है, मूर्त्त नहीं। चित्र का भावात्मक स्वरूप ही कवि का लक्ष्य है। स्वभावोक्ति एवं सहजोक्ति का पूर्ण विरोध है।

आधुनिक कवियों ने मूर्त्त को अमूर्त्त तथा अमूर्त्त को मूर्त्त रूप में ही ग्रहण नहीं किया है, बल्कि उन्होंने मूर्त्त को उसके यथार्थ रूप में भी देखा

है। अलंकारशास्त्र के अनुसार आप इसे स्वभावोक्ति समझिए। मूर्त्त को उसके यथार्थ रूप में ग्रहण करते समय कवि प्रकृति-सम्मत चित्र का उपासक होता है तथा शब्द चित्र उपस्थित करता है। कवि जबतक अपनी व्यक्तिगत सत्ता (Individuality) को समष्टिगत सत्ता (Universality) के साथ समन्वित नहीं कर पाता, तबतक चित्र में सजीवता नहीं आती। चित्र में रंग-बिरंगापन, तड़क-भड़क और सजीलापन तो आ जाते हैं, किन्तु पूर्णता नहीं आती। इस प्रकार के वर्णन में कवि को असाधारण लोक-ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है, और इस गुण से पूर्ण व्यक्ति ही सफलता प्राप्त करता है। निम्न-लिखित पंक्तियों में समन्वय का चित्र द्रष्टव्य है :—

यह टेढ़ी - मेढ़ी पगडंडी
बहुत पुरानी, बढ़ी सिकुड़कर
खाई से हट, काँटों से बच
पहुँची हरे-भरे खेतों पर।
हुई शाम, जा रहे बगल से
दिन-भर चरकर घर को डंगर
घंटनाद कण्ठों का टिन-टिन,
टन-टन, टुन-टुन मधुर निरन्तर।

—नेपाली

प्रस्तुत का कितना स्वाभाविक और सुन्दर चित्रण है। कवि अपने-आपको चित्र में खो देता है। ज्ञात होता है, वह पतली-सी घूमती-फिरती पगडंडी है। धूमिल संध्या की लाली गोधूली-राग से मिलकर नवीनता को सृष्टि कर रही है। डंगर घरों की ओर लौट रहे हैं और उनकी घंटियों का 'टन-टन, टुन-टुन' कानों की राह जाकर मधुरता की धारा बहाता है। यह चिरपरिचित पर नवीन चित्र बरबस अपनी ओर हृदय आकृष्ट करने में समर्थ है।

प्राचीनकाल से ही उपमा एवं रूपक का अत्यधिक प्रचार भारतीय साहित्य में रहा है। मौलिक कवि नवीन उपमाएँ ढूँढ़ निकालते हैं तथा अन्य कवि उन्हीं जूठी उपमाओं से अपनी भूख बुझाते हैं। इस प्रकार उपमाएँ रूढि-ग्रस्त हो जाती हैं और उनका प्रसार रुक जाता है। शायद इसीको लक्ष्य कर महात्मा तुलसीदासजी ने लिखा था—'सब उपमा कवि रहे जुठारी, केहि पटतरिय विदेहकुमारी।' ब्रजभाषा-काल में नख-शिख-वर्णन के कारण उपमान सदा एक ही रह गये। चन्द्र, कमल, शुक, पिक, दाड़िम और नागिन की परिधि में ही कवियों की प्रतिभा चक्कर काटती रह गई। 'कमल' की

उपमा का तो अजीर्ण-सा हो गया; प्रत्येक वस्तु बेचारे कवियों को कमल-सदृश ही ज्ञात होती थी। आधुनिक कवियों ने कुछ नई उपमाओं का अन्वेषण किया। कुछ उपमाएँ स्वाभाविक और अतः प्रभावशालिनी हैं। कुछ नवीन सफल उपमाएँ पन्तजी के द्वारा हिन्दी में आई हैं।

अहो अनभ्र गगन के जलकण!
ज्योति-बीज! हिमजठ के घन!
बीते दिवसों की समाधि हे!
प्रातः विस्मृत स्वप्न सघन!

—पंत (नक्षत्र)

नक्षत्रों की उपमाएँ कितनी नवीन किन्तु मर्मस्पर्शिनी हैं। शीतकालीन प्रभात-रश्मियाँ ओसों पर पड़ उन्हें चमत्कृत करती हैं, कवि को नक्षत्र-लोक देख उन्हीं की याद आती है। प्रकाश की लघु रश्मियाँ देख ज्योतिर्बीज की कल्पना सजग हो उठती है। 'बीते दिवसों की समाधि' में चलकर उपमा का सौंदर्य बढ़ नहीं सका है, कारण नक्षत्र और समाधि सन्तुलित नहीं होते।

पागल हुई मैं अपनी ही मृदु गन्ध से—
कस्तूरीमृग-जैसी।
अथवा—
नूपुरों की झनकार घुली-मिली जाती थी
चरण अलक्तक की लाली से
जैसे अन्तरिक्ष की अरुणिमा
पी रही दिगन्तव्यापी संध्या संगीत को।

—प्रसाद (प्रलय की छाया)

'कस्तूरी-मृग' का उन्माद अपने-आप पर मुग्धा नायिका के लिए कितनी उत्तम उपमा है। रूपाभ की चरण-लालिमा के साथ नूपुर-ध्वनि की उपमा 'अन्तरिक्षव्यापी अरुणिमा' के 'संध्या-संगीत' के साथ कितनी संतुलित होती है।

आधुनिक कवियों में वैचित्र्य उत्पन्न करने की प्रवृत्ति अधिक लक्षित होती रही है। इस वैचित्र्य में शास्त्रीय 'विचित्रालंकार' का कोई स्थान नहीं। इसका उद्देश्य केवल पाठक के मस्तिष्क और हृदय पर आतंक जमाना है। शब्दाडम्बर और अनर्थत्व का विचित्र सम्मिश्रण रहता है। यहाँ चमत्कार एवं वैचित्र्य का विरोध नहीं, अस्वाभाविकता का विरोध है। साहित्य के शुभेच्छुओं का ध्यान इस ओर जाना आवश्यक है।

कँप जातीं दसों दिशाएँ
सुन वज्रनाद अति भीषण
संसार सकल सो जाता
हतज्ञान-सरीखा तक्षण।

—सुहृद

'तक्षण' का प्रयोग चिन्त्य होने के अतिरिक्त भावसाम्य में भी बाधा है। जिस वज्रनाद से दसों दिशाएँ कम्पित हो जाती हैं उससे संसार सो कैसे सकता है और क्या संसार दसों दिशाओं के परे है?

मेरे पंकिल अहंकार में,
जागो, करुणा के पंकज।

—नरेन्द्र

अहंकार से करुणा का उद्भव नहीं होता, और अहंकार के साथ करुणा का समन्वय मनोवैज्ञानिक भ्रम है। पंकिल को अहंकार का विशेषण रखने से और गड़बड़ी हो गई है। यदि अहंकार पंकिल न होकर स्वयं पंक होता, तो शायद कुछ काम चलता भी; किन्तु यहाँ तो कवि चमत्कार उत्पन्न करने के फेर में था।

सम्प्रति इन्हीं नवीन धाराओं से काव्य-सागर परिपूर्णता प्राप्त कर रहा है। इनमें वर्षाकालीन धाराओं की मलिनता के साथ शीतकालीन धारा की धवलता भी है। मलिनता से ही धवलता का उत्कर्ष होता है। आशा है, मलिनता सागर को मलिन न कर सकेगी, और वह पूर्णचन्द्र की स्निग्ध ज्योत्स्ना में लहरा उठेगा।

[विशाल भारत, आश्विन १९९५]

काव्य में अस्पष्टता

वर्तमान हिन्दी काव्य की पृष्ठभूमि के रूप में आधुनिक भारतीय समाज का विशृङ्खल चित्र है। प्रायः समाज और साहित्य का संतुलित संगठन नहीं होता ; कभी एक की वृत्तियों की प्रधानता दूसरे में और कभी दूसरे की प्रवृत्तियों की प्रमुखता पहले में पाई जाती है। अतः काल-विशेष में स्थानीय और देश-गत कारणों से इन दोनों के संबंध में विषमता उत्पन्न होती रहती है तथा समाज और साहित्य की एकाकारिता कभी देखी नहीं गई। किन्तु, दोनों का पारस्परिक संबंध विच्छिन्न नहीं होता—संभव है, साहित्य समाज के वर्ग-विशेष की भावना ही प्रतिफलित करे। मानव-कृत प्रयत्न में (बल्कि प्रत्येक कृति में) कार्य-कारण का संबंध अनिवार्य है। हो सकता है, यह संबंध तात्कालिक फल के रूप में प्रकट न हो। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर ध्यान रखते हुए अध्ययन करने से आधुनिक भारतीय समाज की विशृङ्खलता के मूल में परस्पर विरोधी भावनाओं का संघटन है। विभिन्न जातियों, उपजातियों की विभिन्नावस्था तथा अनेक संस्कृतियों के पारस्परिक विरोध और संघर्ष के कारण विषमता आधुनिक समाज की आधार-भित्ति है। यह सांस्कृतिक, साहित्यिक एवं राष्ट्रीय संघर्ष किसी सु-स्पष्ट निश्चित परिणाम पर नहीं पहुँचा है, सर्वत्र अस्पष्टता, अनिश्चितता का साम्राज्य है। अतः आज सामाजिक जीवन विच्छिन्न और अस्त-व्यस्त-सा दीख पड़ता है। इसी स्पष्टता के अभाव का दर्शन साहित्य-क्षेत्र में भी अ-स्पष्टता के रूप में मिलता है।

इस सामाजिक चित्र-पट पर सामाजिक भावनाओं का संक्षिप्त चित्रांकन आवश्यक है; नहीं तो सम्पूर्ण प्रश्न को उसकी वास्तविक वस्तुस्थिति (Perspective) में देखा नहीं जा सकेगा। रीतिकालीन हिंदी कविता जन-साधारण के भावों का तिरस्कार कर वर्ग-विशेष की भावनाओं के चित्रण और

उसके नाना-विधान अपरूप सौंदर्य-साधन में लगी रही। अधिक की वस्तु न होकर वह अल्पांश की प्रिया रही; जनसमुदाय इस साहित्य के प्रति उदासीन रहा। भारतेंदुकाल में जन-भावना को शब्द-बोध हुआ और क्रमशः उपेक्षित लोक-भाव काव्य-साहित्य में प्रकाश पाने लगा। इस स्थान पर पहुँचकर यथार्थ (वास्तविक) और आदर्श (काल्पनिक) का विरोध स्पष्ट-सा होता प्रतीत होता है। वस्तुतः यथार्थ और आदर्श स्वयम् पूर्ण सत्य नहीं हैं; बल्कि हैं सापेक्ष गुण-निदर्शक। न तो कोई वस्तु यथार्थतः यथार्थ है और न कोई पूर्णतः आदर्श। इस प्रकार यथार्थवाद स्वयम् कठोर आदर्श है जिसकी रपटीली भूमि पर टिक सकना यदि असंभव नहीं तो अत्यन्त कष्ट-साध्य है अवश्य। यथार्थ के पोषक स्वयम् इसका तिरस्कार कर बैठते हैं—ऐसी मेरी धारणा है। यथार्थ और आदर्श की इस विवेचना का अर्थ अस्पष्टता का सापेक्ष विधान है; कारण-स्पष्टता और यथार्थ का सम्बन्ध अक्षुण्ण है। अ-स्पष्टता स्वयं निरपेक्ष (absolute) नहीं, एक वस्तु जो किसी के लिए अस्पष्ट है वह दूसरे के लिए स्पष्ट हो सकती है। अतः आवश्यकता है कि अ-स्पष्टता के भावों का विचार सर्वप्रथम किया जाय।

अस्पष्टता आत्म-निष्ठ ही नहीं वरन् पदार्थ-निष्ठ भी है। अस्पष्टता का भाव हृदयंगम करने के लिए व्यक्ति-विशेष की मानसिक शक्ति और वृत्ति का ध्यान आता है। अतः हिन्दी-काव्य की अस्पष्टता समझने के लिए हिन्दी पाठकों की बोध-वृत्ति पर ध्यान रखना आवश्यक होगा। हिन्दी के अधिकांश पाठक मनोरंजन के विचार से साहित्य-क्षेत्र का परिचय प्राप्त करते हैं। अँगरेजी पढ़े-लिखे लोग अपना मनोरंजन उसीके साहित्य द्वारा करते हैं या गंभीर पाठक उसी के साहित्य द्वारा अपनी जिज्ञासा और ज्ञान-पिपासा मिटाते हैं। वास्तविक बात तो यह है कि आज के प्रचलित विवादपूर्ण 'वादों' का तर्क-सम्मत विश्लेषण अँगरेजी में प्राप्त हो सकता है। वहाँ 'वादों' का उद्भव विदेशों में भावनाओं के घात-प्रतिघात, आलोड़न-विलोड़न के प्रत्यावर्त्तनरूप में हुआ; किन्तु यहाँ सामाजिक विच्छिन्नता के कारण इन 'वादों' का सामाजिक भावनाओं के साथ युक्ति-संगत कार्य-कारण-सम्बन्ध प्रकट नहीं होता, अतः जन-साधारण और प्राचीन-परिपाटी के विद्वानों की बोध-वृत्ति और काव्य की अथच नवीन धाराओं का बोध-गम्य संतुलन नहीं हो पाता। पाठक की बोध-वृत्ति और काव्य की अन्तर्निहित भावना में वैषम्य और अन्तर आ जाता है; वह पाठक की आत्मा में घुलमिल नहीं जाती और इस असम्पर्कता या अन्तर को ही 'काव्य में अस्पष्टता' संज्ञा मिली।

इसका स्पष्ट अर्थ है कि सामाजिक भावना के पुष्ट होने और उपयुक्त पृष्ठभूमि के उपस्थित होने पर अस्पष्टता सुस्पष्टता में परिवर्तित हो सकती है अथवा विपरीत अवस्था उपस्थित होने पर काव्य की स्पष्टता अस्पष्टता में परिणत हो जायगी।

काव्य में कवि शब्दों-द्वारा भावनाओं के चित्र उपस्थित करता है। चित्रकार अपनी तूलिका से चित्रपट पर रंग और कूची के द्वारा चित्र उतारता है (फोटू की बात मैं नहीं करता, कारण फोटोग्राफर में चित्र-लेखक की अन्तर्वृत्ति नहीं रहती)। चित्र में सौंदर्य एवं चित्रित वस्तुओं की रूप-रेखा स्पष्ट हो सकती है; किन्तु चित्रकार की निहित भावना काव्य की भाँति नहीं। काव्य में भी इसी प्रकार संगीतमत्ता एवं कलापूर्ण चित्रत्व का संतुलन होने पर भी सम्भव है कि कवि सीमित रूप में सफल होने पर भी अपनी भावना स्पष्ट नहीं कर सका हो। भाव-प्रकाशन की अ-क्षमता ही अस्पष्टता की भावना में सन्निहित है। अस्पष्टता की विभिन्न अवस्थाएँ हैं—संदिग्ध (vague), अव्यक्त या द्व्यर्थक (Ambiguous) और अ-स्फुट (obscure)।

कवि भावनाक्रांत होता है, उसका अन्तर भाव-प्रकाशन के लिए व्याकुल हो उठता है। कवि की यह मानसिक सहज-प्रवृत्ति उत्तेजनापूर्ण होते हुए भी प्रौढ़ नहीं रहती। इस सहज प्रवृत्ति की प्रेरणा से वह अपनी भावनाओं के चित्र अंकित करता है; किन्तु प्रौढ़ता के अभाव में उसकी कविता में संदिग्धता पाई जाती है। प्रौढ़ता के आविर्भाव के साथ ही साथ क्रमशः संदिग्धता मिटती जाती है। इसे दूसरे रूप में भी ग्रहण किया जा सकता है। मानस के चेतन और अ-चेतन दो स्तर हैं। अ-चेतन स्तराश्रित भाव चेतन स्तर में आने की प्रबल चेष्टा करते हैं।

अचेतन स्तराश्रित भावना चेतन-प्रदेश की भावना के साथ साहचर्य के नियमों के द्वारा सम्बद्ध होकर काव्य की प्रेरणा होती है। काव्य न तो पूर्णतः अचेतन मानस का अजस्र भाव-प्रवाह है और न तो पूर्णतया सचेतन मानस की क्रिया का फल। मानस के अ-चेतन स्तर से भावना निकलकर चेतन-स्तर पर अधिकार जमाते समय अपना स्वरूप निश्चित करती है। भावना का वही चित्र संगीत का साहाय्य ले भाषा का माध्यम स्वीकार कर प्रकट होता है, अतः भाषा के द्वारा कवि भावना का चित्र उपस्थित करता है। भावना की सापेक्षिक तीव्रता और उत्तेजना के प्रभाव के कारण मानसिक और काल्पनिक चित्रों की चित्रमत्ता और रूप-रेखा में अन्तर आता है। जिस मात्रा में चित्र कवि के मानस-पटल पर स्पष्ट उतरेगा उसी अनुपात में स्पष्टता उसके द्वारा उपस्थित शब्द-चित्रों में रहेगी। कथन की स्पष्टता के लिए दो शब्द-चित्र उपस्थित करता हूँ—

वह आता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने को—भूख मिटाने को
मुँह फटी पुरानी झोली का फैलाता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
साथ दो बच्चे भी हैं सदा हाथ फैलाए,
बाएँ से वे मलते हुए पेट को चलते,
और दाहिना दया-दृष्टि पाने की ओर बढ़ाए।

—निराला : भिक्षुक

यह आए दिन बाजारों में और सड़कों पर दीख पड़नेवाले दृश्य का शब्द-चित्र है। कृश-काय, भूखे भिखारी का फटा-पुरानी झोली का मुँह फैलाना अद्भुत चित्रमत्ता का विषय उपस्थित करता है। चित्र न केवल अपनी वस्तुस्थिति में बल्कि व्यञ्जकता में भी स्पष्ट है, ऐसा प्रतीत होता है। अब दूसरा चित्र सामने है—

गिरि का गौरव गाकर झर-झर
मद से नस-नस उत्तेजित कर
मोती की लड़ियों से सुन्दर
झरते हैं झाग भरे निर्झर

—पंत : पल्लव

कवि की मानसदृष्टि के सामने झरते हुए झरने का चित्र है। 'झाग भरे निर्झर' से निर्झर का बरसाती होना अंकित होता है, अन्यथा शरत्कालीन गम्भीर निर्झरप्रवाह में 'झाग' का स्थान नहीं। इसके समक्ष 'मोती की लड़ियो से सुन्दर' रखकर दोनो चित्रों का तुलना कीजिए। एक ओर वर्षा का तूफानी 'झाग भरा निर्झर' और दूसरी ओर 'मोती की लड़ियाँ'; अतः चित्र ठीक अपने सुव्यवस्थित रूप में दृष्टि-पथ में नहीं आता, कारण 'निर्झर' का चित्र कवि के मानस में स्पष्ट रूप न धारण कर सका था और वह कागज पर उतर आया। इसे ही मैं काव्य की संदिग्धता मानता हूँ।

द्व्यर्थक कविता को शब्द-अर्थ-श्लेष का विकृत रूपान्तर मानना चाहिए। श्लेष में चमत्कार और सौष्ठव की प्रधानता तथा द्व्यर्थक काव्य में

और अप्रतिमता (Singularity) के कारण प्रभावशील होते हैं। यदि एक ही समय वह दो अर्थों पर अपना ध्यान रखता है तो कविता का एकत्व नष्ट हो जाता है। इस प्रकार कठिन मानसिक व्यायाम के द्वारा एक-आध पद्य की रचना हो सकती है; किन्तु सफल कविता के क्षेत्र में पदार्पण करने की इच्छा रखनेवाले कवि के लिए यह आत्महत्या-तुल्य है। प्राचीन कविता में कुछ इसी प्रकार के उदाहरण मिलते हैं। अलंकार की किसी पुस्तक में मैंने एक पद्य पढ़ा था जिसमें सूम और दानी का गुण-गान था। वर्ण्य विषयों के नाम देने के कारण उसकी अस्पष्टता कुछ मात्रा में कम हो गई थी। दृष्टिकूट के पदों की अस्पष्टता क्लिष्टता के इसी आधार पर है। क्लिष्टता और अ-स्पष्टता में तात्त्विक विभेद होने पर भी पहले की उपस्थिति में दूसरे की विद्यमानता अवश्यम्भावी है। द्व्यर्थक कविता में कवि के अभिप्रेत अर्थ के प्रति पाठक आकृष्ट होगा ही—ऐसा निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। वर्तमान कवियों में इस प्रकार के काव्य की प्रवृत्ति कम दीख पड़ती है। इस प्रकार की एक-आध कविता का उदाहरण स्वर्गीय महावीरप्रसादजी द्विवेदी ने अपने निबंध 'आजकल के छायावादी कवि और उनकी कविता' में दिया है।

इसके पश्चात् अस्फुट काव्य का स्थान आता है। 'संदिग्ध' और 'अ-स्फुट' काव्य का अन्तर समझने के लिए वर्णित वस्तु के भौतिक आधार की ओर ध्यान देना पड़ेगा। आधार की स्थूलता के कारण शब्दचित्र में स्पष्टता की मात्रा अधिक पाई जाने की सम्भावना अधिक है—यदि कवि के मानस-पटल पर वर्ण्य वस्तु का चित्र स्पष्ट उतर सका हो—और आधार की सूक्ष्मता के कारण कवि द्वारा प्रस्तुत चित्र अपेक्षाकृत कम स्थूल अर्थात् सूक्ष्म (अस्पष्ट) होगा। भावना की सूक्ष्मता का सापेक्षिक प्रभाव कविता में प्रकट हो होगा। अनुभूति के चित्रों में कवि को अ-स्पष्ट होना ही पड़ता है, अतः यह स्पष्ट है कि स्थूल वस्तु अथवा भाव का स्पष्ट चित्रण काव्य में न रहने पर उसे संदिग्ध और भावना-प्रधान कविता में अनुभूति की सूक्ष्मता के कारण अस्पष्टता रहने पर उसे अस्फुट काव्य कहते हैं। मैं यहाँ स्पष्ट कर देना चाहूँगा कि अनुभूति जितनी गहरी होगी उसी मात्रा में उसकी व्याकृति कठिन होगी; कारण, उसकी व्याप्ति संमिश्र हो जाती है। संदिग्ध और अस्फुट काव्य के अभ्यन्तर में आधार की स्थूलता अथवा सूक्ष्मता है। आत्मा-परमात्मा का संबंध प्रकाश्य रूप में प्रकट नहीं होता, अतः उनके साक्षात्कार की अनुभूति अत्यन्त सूक्ष्म विभाव के रूप में होती है; उसके

चित्रण में अस्फुटता (obscurity) आवश्यक है, अनिवार्य है; इसका कोई निराकरण नहीं। उदाहरण देकर अस्फुट काव्य का विश्लेषण उपस्थित करने की चेष्टा करूँगा—श्रीमती महादेवी वर्मा की कविता का अंश है—

चाँदनी मेरी अमा का, भेंट कर अभिषेक करती;
मृत्यु जीवन के पुलिन दो आज जागृति एक करती;
हो गया अब दूत प्रिय का
प्राण का संदेश स्पंदन !

अमा और चाँदनी परस्पर-विरोधिनी अवस्थाएँ हैं, एक के अभाव में दूसरे का भाव और दूसरे के अभाव में पहले का भाव है। पाठक—देश, काल और पात्र की लघु-सीमा में आवृत पाठक—इस मिलन को कवि के विकृत मानस का परिणाम समझ बैठता है। विरह की अमा में मिलन की चाँदनी क्या नहीं खिलती? निराशा के अन्धकार में क्या आशा-दीप प्रज्वलित नहीं होता? आत्मा की तमसावृत आकांक्षा में शुभ्र जीवन का संदेश बीजरूप में निहित है। आत्मा की विरह-निशा में मिलन का अंकुर छिपा है। बीज में वृक्ष हैं; अमा में चाँदनी। मृत्यु और जीवन में कोई अन्तर नहीं; जिसे जग मृत्यु कहता है वह नवीन जीवन का प्रारम्भ है, ऐसा दार्शनिकों का मत है। जीव की जागर्ति मृत्यु और जीवन को विच्छिन्न न मानकर एक सूत्र में पिरोती है। कवि की यह अस्पष्टता अनुभूति की गहनता और कल्पना की सूक्ष्मता के कारण है।

अस्पष्टता के विविध रूपों की विवेचना के बाद इसके कारणों का अन्वेषण युक्तिसंगत होगा। विभिन्न रूपों की विवेचना द्वारा स्पष्ट होता है कि अस्पष्टता के कई कारण हैं चाहे कवि के समक्ष भावों के चित्र अस्पष्ट रूप में आयें अथवा व्यक्तीकरण का माध्यम इतना अक्षम हो कि उनके मानस-पटल पर उतरे स्पष्ट चित्र भी उसकी कविता में स्पष्ट न हो सकें। इस स्थान पर यह लिख देना आवश्यक प्रतीत होता है कि स्थान के विस्तार-सामर्थ्य के अभाव में कवि संकेतों का आधार लेता है। कवि की कविता समझने के लिए उसकी विचार-धारा, संस्कार (Pattern) और उसकी शैली का परिचय आवश्यक है। संकेतों की अपने को स्पष्ट करने की शक्ति, और पाठकों की उन संकेतों के समझने की शक्ति पर अस्पष्टता आधारित है। कवि के लिए इतना कहा जा सकता है कि उसे संकेत इतनी मात्रा में देना चाहिए, जिसके अभाव में उसकी कविता पहेली न बन बैठे। कवि की अक्षमता इस प्रकार की अस्पष्टता का कारण है।

कवि की विचार-धारा भावावेश की अवस्था में उन्मुक्त रहती है। कवि के अन्तर में भावना जगती है और वह उस भावना के साथ अपनी बुद्धि के सामञ्जस्य द्वारा सहसा परिणाम पर पहुँच जाता है, बीच की विवेचनात्मक विचारधारा उसके मस्तिष्क में ही रह जाती है, पाठकों के सम्मुख नहीं आती, फल यह होता है कि कवि की मध्यवर्तिनी विचारधारा से अपरिचित उसके क्रमिक रूप को नहीं देख पाता और उसे कविता सहज बोधगम्य प्रतीत नहीं होती।

'मगस को बाग में जाने न दो
कि नाहक खून परवानों का होगा।'

'मधुमक्खियों को बाग में जाने न दो, नहीं तो व्यर्थ ही परवानों का खून होगा!' साधारण पाठक मधुमक्खियों के बाग में जाने और परवानों की हत्या में कोई संबंध नहीं देखता; किन्तु मधुमक्खियों के कारण मोम और मोम से मोमबत्तियाँ बनती हैं। और शमा परवानों के खून का कारण है, इसे कौन अस्वीकार करेगा? क्या इस दशा में मधुमक्खियाँ और परवानों के जलने में सम्बन्ध न हैं?

विषय की गम्भीरता, भावाकुलता की शक्तिमत्ता, अनुभूति की जटिलता के कारण भी कविता अस्पष्ट होती है। इस प्रकार की अस्पष्टता का उदाहरण दिया जा चुका है। इसके सम्बन्ध में इतना कहना अलम् होगा कि अनुभूति की जटिलता और भाव-गम्भीरता के कारण कवि द्वारा दिये गये संकेत स्वतः स्पष्ट नहीं रहते। उन्हें स्पष्ट रूप में हृदयंगम करने के लिए पाठक में भी कवि के अनुकूल उसी मात्रा में विदग्धता और भावाकुलता होनी चाहिए, जबतक वह कवि की मनोदशा में नहीं पहुँचे, जबतक वह उसकी अन्तर्वीणा के साथ एकात्मता का अनुभव नहीं करे, तबतक कविता उसके समीप अस्पष्ट रहेगी, अबोध-गम्य रहेगी।

ओ गो जानि ना की नंदन रागे
सुखे उत्सुक यौवन जागे।
आजि आम्र - मुकुल-सौगंध्ये
नव - पल्लव मर्मर छंदे,
चंद्र - किरण - सुधा - सिंचित अम्बरे
अश्रु सरस महानंदे
आमि पुलकित कार परशने
गंध - विधुर समीरणे।

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

'अजी, मुझे क्या पता कि किस आनन्ददायी राग से सुखाविल होकर उत्सुक यौवन जग पड़ा है। आज आम्र-मंजरी की सुगंधि, नव पल्लवों की मर्मर-ध्वनि और चन्द्र-किरणों से अम्बर सिञ्चित हो उठा है। वायु गन्ध से कातर है, मैं किसके स्पर्श से पुलकित हो उठा हूँ।'

कवि को कौन बतलाए, किसका पुलकित स्पर्श है, किसके स्पन्दन का कथन उसके स्वरों में जग पड़ा है?

कुछ कवि पाठक पर आतंक जमाने और अपनी कवित्वशक्ति का सिक्का जमाने के लिए कुछ ऐसी बे-मतलब बातें करते हैं कि साधारण पाठक अपनी नासमझी के कारण उस प्रकार की कविताओं की श्रेष्ठता स्वीकार कर ले। इस कोटि के अनेक उदाहरण आजकल की पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कविताओं में मिलेंगे। इस प्रकार की आतंकवादी कविताओं के मूल में कवि-हृदय-स्थित हीनता के भाव का आधिपत्य है, वह अपनी असमर्थता अचेतन रूप से प्रकट करता है।

सुख शान्ति तृप्ति छवि के कल लीक में तिरोहित
नव प्राण रूप पाऊँ
होकर विलीन तुममें मूर्च्छा निधूम मोहित
तुम-सा बनूँ—बनाऊँ'

—अंचल : अपराजिता

(कवि ने स्वयं विराम-चिह्नों का प्रयोग नहीं किया है, अतः पाठक मुझे क्षमा करेंगे।) 'लीक' का अर्थ मर्यादा या सीमा लेने से सुख-शान्ति-तृप्ति का तिरोहन संभव-सा प्रतीत होता है; किन्तु 'प्राण रूप पाऊँ' का संकेतित अर्थ स्पष्ट नहीं होता। प्राण का रूप पाऊँ या रूप का प्राण पाऊँ—साफ नहीं होता। प्राण का रूप संभव नहीं और यदि रूप का प्राण कवि का अभिमत अर्थ है तो उसे 'सुख-शांति-तृप्ति-छवि के कल लीक में तिरोहित' होने की आवश्यकता क्या है? 'होकर विलीन तुममें' 'तुम-सा बनूँ' का भावचित्र तो उतरता; किन्तु 'मूर्च्छा निधूम मोहित' में आकर चित्र इतना अव्यवस्थित हो जाता है कि चित्र बनता ही नहीं, तथा अंत में 'बनाऊँ' आकर तो और गुड़ गोबर कर देता है। स्वाभाविक रूप में प्रश्न हो सकता है 'क्या बनाऊँ?' तुम्हें अपने-सा बनाऊँ या स्वयं तुम-सा बनूँ। यदि 'तुम्हें अपना-सा बनाऊँ' समझ लिया जाय तो इस प्रकार का कोई संकेत यहाँ प्राप्य नहीं और यदि स्वयं 'तुम-सा बनूँ' यह माना जाय तो 'बनूँ' की उपस्थिति में 'बनाऊँ' व्यर्थ है तथा इसकी शक्ति कम कर देता है। स्पष्टतः ज्ञात होता है कि कवि

कवि और प्रकृति-चित्रण

साहित्य—काव्य जिसका साधक अंग है—मूलतः जीवन की अभिव्यक्ति है। इस अभिव्यक्ति में साहित्यिक अन्तःक्षोभ, राग और मनोविकार प्रतिफलित करने के लिए कल्पना का साहाय्य ग्रहण करता है। काव्यगत संगीत मानवात्मा की रागात्मिका वृत्ति क्षुब्ध करता है। इस प्रकार साहित्य का सम्बन्ध मानवीय प्रेरणाओं और भावाभिव्यक्ति से है। बाह्य और आन्तरिक जीवन का चिर-समन्वय और तालैक्य सम्भव नहीं। बाह्य जीवन का अर्थ मनुष्य के उस बाह्य संघर्ष से है, जिसके द्वारा वह बाह्य उपकरणों और प्रतिवेश में अपना स्थान नियत करता है। आन्तरिक जीवन के आधार भाव, राग, अन्तःक्षोभ आदि मनोवैज्ञानिक वृत्तियाँ हैं। बाह्य जीवन आन्तरिकवृत्ति को विशिष्ट सीमा तक तथ्य तथा प्रेरणा प्रदान करता है एवं आन्तरिक जीवन बाह्य जीवन को उसका मार्ग। बाह्य संघर्ष के साथ-ही-साथ हृदय की वृत्तियों का संग्राम भी चलता रहता है। यह संघर्ष ही जीवन का प्रतीक, साहित्य के प्राण और काव्य की आत्मा है। इस संघर्ष की अभिव्यक्ति ही साहित्य का आधार है, अब यह संघर्ष चाहे व्यक्तिविशेष का हो अथवा जाति-विशेष तथा सम्पूर्ण मानव-जाति का।

मानव-जीवन के उषःकाल में प्रकृति से उसका पहले-पहल संघर्ष था—बहुत करके वह संघर्ष आज भी चल रहा है। शिशिर का शीत, वर्षा की झड़ और ग्रीष्म का आतप इसके विकास के विरोधी थे, अथवा प्रकारान्तर से विरोध उपस्थित कर विकास के सहायक थे। इस प्रकार मानव-जीवन और और प्रकृति का सदा से सामीप्य रहा है, अतः तज्जनित संघर्ष भी। प्रकृति की गोद में मानव-जीवन विकसित हुआ, अतः उसका अक्षुण्ण प्रभाव लक्षित है मानवता पर।

कवि मानवता के राग का माप-दण्ड है। मानव-प्रकृति के भाव, राग, अन्तःक्षोभ और मनोविकार का पूर्ण ज्ञान कवि को होता है, अन्यथा वह अपने लक्ष्य में सफल नहीं हो सकता। प्रकृति सदा से मानवता को प्रभावित करती आई, अतः यह सम्भव न था कि वह अपना प्रभाव कवि पर न डाले, और यह भी सर्वथा अशक्य था कि कवि की सहज-उद्वेगशीला वृत्ति पर प्रकृति की छाप न पड़े। कवि प्रकृति की आन्तरिक भावना के प्रति उदासीन न रह सका; वह इसके प्रति विशेष जागरूक हुआ, और उसके फल-स्वरूप काव्य को विशिष्ट धाराएँ प्राप्त हुईं।

प्रकृति शब्द के साधारणतः दो अर्थ लिये जाते हैं—वाह्य प्रकृति और वस्तुओं की तथ्यगत स्थिति। मानव प्रकृति का संबंध प्रकृति के इस दूसरे अर्थ से है। प्राकृतिक प्रकृति के साथ मानव-प्रकृति का वहीं तक सामंजस्य है, जहाँ तक कृत्रिमता का जीवन में विरोध है। वाह्य प्रकृति का अर्थ आँखों के सामने फैले दृश्य से लिया जाता है। लहलहाती हरियाली, झरते निर्झर, झूलते झुरमुट और हँसती चाँदनी से उसका सीधा संबंध है। ये वस्तुएँ प्रकृति के अंग होकर भी उसका पूरा चित्र उपस्थित नहीं करतीं; प्रकृति का अर्थ इन सभी का संश्लिष्ट चित्र समझना चाहिए। प्रकृति का संबंध उस सैद्धान्तिक अन्तर्भावना से है, जो इन सभी वस्तुओं के अन्तर में अन्तःसलिला सरस्वती की भाँति—आत्मारूप में—प्रवाहित है। कवि प्रकृति के इन उपकरणों में सृष्टि के नियमों की अनुरूपता पाता है। नियम और अन्विति इनके मूल लक्ष्य हैं; किन्तु इनकी परिधि में आवृत कर कवि प्रकृति की सौन्दर्यगत अवस्था का तिरस्कार नहीं करता। दार्शनिक भावों के आरोप और उसके प्रभावान्वित होने की अवस्था में भी सौन्दर्य उसकी आधार-शिला है। कवि के लिए प्रकृति का संबंध इस प्रकार सौन्दर्यशाली वाह्य दृश्य से है।

प्रकृति का सम्बन्ध वस्तुओं की प्राकृतिक अवस्था से भी है, जिसमें मानवीय कला-कृत्रिमता का स्पर्श न हुआ हो। कला कृत्रिम है और कृत्रिमता प्रकृति की विरोधिनी। सभ्यता के आदि-युग में प्रकृति की गोद में पला मानव उसकी आज्ञाओं, तज्जनित राग, आवेग और प्रवृत्ति का विरोध नहीं कर सका। धीरे-धीरे प्रकृति से विरोध उपस्थित होने पर उसमें कृत्रिमता आने लगी और प्रकृति से उसका विरोध बढ़ता गया। सभ्य भाषा में प्रकृति के इस विरोध का नाम सभ्यता हुआ। कवि जीवन को उसके रागात्मक संबंध में ही देखता है, और सभ्यता का आग्रह राग का निग्रह है; कवि मानव की

प्राकृतिक अवस्था अधिक उन्नत और सुखी मानता है। कारण यह है कि उस जीवन में मानवता के रागात्मक संबंध का प्रसार सम्भव था, अतः कवियों की प्राकृतिक जीवन में लौटने की इच्छा प्राकृतिक है। प्राकृतिक सृष्टि और मानव-जग की विषमता इन पंक्तियों में लक्षित हो रही है—

वे चहक रहीं कुंजों में चंचल सुन्दर
चिड़ियाँ, उर का सुख बरस रहा स्वर-स्वर पर
शत कुसुमों में हँस रहा कुंज उडु उज्ज्वल,
लगता सारा जग सद्यःस्मित ज्यों शतदल।
है पूर्ण प्राकृतिक सत्य! किन्तु मानव-जग
क्यों म्लान तुम्हारे कुंज, कुसुम, आतप खग!

—पंत

प्रकृति चिर-सौन्दर्य-भाण्डार है; किन्तु संसार—मानवी सृष्टि—ने मलिनता, कष्ट, विभेद और कृत्रिमता की चाहारदीवारी अपने चारों तरफ खींच ली है। प्रकृति सुख-सौन्दर्य का आदि-स्रोत और अनन्त-अक्षय भाण्डार है। मनुष्य उसकी अवहेलना कर जीवन की रागात्मिका वृत्ति का विरोध कर उठता है और इस प्रकार हो जाता है उसका जीवन नीरस और भावनाशून्य।

प्रकृति को उसकी तथ्यगत अवस्था के अर्थ में लेनेवाला व्यक्ति बूढ़े की अपेक्षा बच्चे को, शहर की अपेक्षा देहात को अधिक प्राकृतिक समझता है, क्योंकि सभ्यता का बालकपन पर अधिकार जमा नहीं है और गाँवों को कृत्रिमता की संहारकारिणी उँगलियाँ नष्ट नहीं कर सकी हैं। वह भूल जाता है कि गाँवों के खेत मनुष्य के परिश्रम के फल तथा कृत्रिम हैं। वह धान के लहलहाते पौदों और 'बालों' से लदी डंठलों को प्रकृति का अंग मान बैठता है। किसान और कृत्रिमता में उसे विरोध दिखाई देता है। अंगरेजी कवियों में वर्डस्वर्थ इस भावना का अन्यतम अनुयायी था। आगे चलकर उसने अपनी इस भावना पर दार्शनिक 'पालिश' कर दी; किन्तु उसके अन्तर में बहनेवाली धारा पूर्ववत् रही। इसी भावना से प्रेरित होकर हिन्दी के नवयुवक कवि 'गाँवों' और 'वनफूलों की ओर' जाना चाहते हैं।

'चलो, जहाँ निर्जन कानन में
वन्य कुसुम मुसकाते हैं
मलयानिल भूलता, भूलकर
जिधर नहीं अलि आते हैं।

विद्युत छोड़ दीप साजूँगी
महल छोड़ तृण-कुटी-प्रवेश
तुम गाँवों के बनो भिखारी
मैं भिखारिनी का लूँ वेश।—दिनकर

मानवता की प्राचीन स्थिति को आदर्श मानने का फल इस विचार-धारा के मूल में कार्य कर रहा है। प्राचीन-प्राकृतिक कहना अधिक उपयुक्त होगा—स्थिति के ही द्वारा व्यक्तिगत और सामाजिक विचारों में सामंजस्य, विवेक-शीलता का आग्रह और आचार-विचार का नियन्त्रण सम्भव माना जाता है। इस विचार के पोषक सहजबोध और स्वाभाविक निर्णय पर जोर देते हैं। ऐसी अवस्था में तर्क का विरोध रहता है। यहाँ पर प्रकृति का अर्थ उस शक्ति से लिया जाता है, जिसके द्वारा मानव सत्य को ग्रहण कर पाता है।

कवि कल्पना के सहारे ऐसे संसार की कल्पना करता है, जो चतुर्दिक फैले विश्व से कहीं अधिक विस्तृत, संवेदनशील और सुन्दर है। हिन्दी-काव्य में प्रकृति का यह अर्थ अभी विस्तृत रूप से गृहीत नहीं हुआ है; किन्तु कवियों का झुकाव इस तरफ हो रहा है :—

उड़ूँ कल्पना के पंखों पर
दीपित छवि के दीप जलाऊँ ;
कवि हूँ, आज बसन्तागम में—
लिखूँ, कूक कोयल बन जाऊँ।

कवि यहाँ केवल प्रकृति का आधार लेकर कल्पना का राज्य बसाना चाहता है। प्रकृति अबतक जिस रूप में गृहीत है, उसका इसमें विरोध है। कल्पना का क्षेत्र विस्तृत और प्रकृति का सीमित है। कल्पना यहाँ अधिक कार्य करती है और उपस्थित करती है उसके लिए प्रकृत-आधार।

किया किसने यह मधुर स्पर्श,
विश्व के बदल गये व्यापार
करेगी उतर व्योम से आज़
कल्पना क्यों भू पर अभिसार?

विश्व उद्देश्यात्मक है; यह अविश्रृंखल और दयालु है। प्रकृति स्वयं जड़ है, ऐसी अवस्था में उद्देश्य, नियमितता और दयालुता का आरोप बहुत कुछ अर्थहीन प्रतीत होता है; किन्तु संशय से रक्षा पाने के लिए इस प्रकार के विचारकों ने इसे अत्यन्त धीमान और दयालु शक्ति—ईश्वर—

का कार्य माना है, अतः इस प्रकार के कवियों ने प्रकृति में ईश्वरत्व की स्थापना कर अंतःक्षोभ और मनोविकार पर धार्मिक रंग चढ़ाया। प्रकृति के विभिन्न रूप, उसके परिवर्तन के कारण और नियम का क्षेत्र विज्ञान के अन्तर्गत हैं। प्रकृति विज्ञान-क्षेत्र में जड़ और असंवेदनशील है; पर धार्मिकता के क्षेत्र में प्रकृति को लेकर दार्शनिकता का आग्रह हुआ। इस प्रकार प्रकृति के मानवीय संबंध की कल्पना धर्म और विज्ञान की सीमाओं का मिलन है, यह दूसरी बात है कि किसी समय एक की प्रधानता रहती है और किसी समय दूसरे की।

प्राचीन साहित्य—संस्कृत और व्रजभाषा—में वस्तुओं का वर्णन दो रूपों में मिलता है—वस्तुएँ आलम्बन हो सकती थीं अथवा उद्दीपन। उन भाषाओं के साहित्य में प्रकृति अधिकांशतः उद्दीपन-रूप में आई। फूलों का खिलना, चाँदनी का हँसना, झरने का गाना, मलय-समीर का किंचित् स्पर्श अनिर्वचनीय आनन्द प्रदान करते हैं। इस प्रकार प्रकृति जीवन की पृष्ठभूमि के रूप में आती है। इस कथन का यह अर्थ नहीं कि प्राचीनकाल में प्रकृति आलम्बन-रूप में नहीं आई। वाल्मीकि ने अपनी रामायण के वन-वर्णन में प्रकृति को आलम्बन माना है। भवभूति ने उत्तर-रामचरित में प्रकृति-वर्णन किया है :—

इह [illegible]—
प्रसवसुरभिशीतस्वच्छतोया वहन्ति।
फलभरपरिणामश्यामजंबूनिकुंज—
स्खलनमुखरभूरिस्रोतसो निर्झरण्यः॥

[यहाँ पर मदमत्त पक्षियों के बैठने से बेंत की लताओं के पुष्प झड़ गये हैं। उनकी सुगंध से युक्त ठंडे और स्वच्छ जलवाली, तथा फलों के बोझ से झुके हुए जामनों के निकुंज में उनके काले फलों के गिरने से शब्दायमान, अनेक स्रोतोंवाली नदियाँ बह रही हैं।]

इस स्थान में यद्यपि कवि प्रकृति की आत्मा से परिचित ज्ञात नहीं होता; किन्तु उसने प्रकृति को उद्दीपन के रूप में ग्रहण न करके आलम्बन के रूप में ग्रहण किया है। उद्दीपन के रूप में गृहीत प्रकृति-वर्णन-संबंधी एक कवित्त पद्माकर का है :—

औरे भाँति कुंजन में गुंजरत भौंर भीर
औरे भाँति बोरन के औरन के ह्वै गए;
कहै 'पद्माकर' सुऔरे भांति गलियानी
छलिया छबीले छैल औरे छबि ह्वै गए।

औरे भाँति बिहंग समाज में अवाज होत,
अबै रितुराज के न आजु दिन ह्वै गए;
औरे रस, औरे रीत, औरे राग, औरे रंग,
औरे तन, और मन, और बन ह्वै गए।

उपर्युक्त छन्द में कवि ने नायक-नायिका के 'मूड' का दिग्दर्शन कराया है। उनके मानस-पटल में उठनेवाले उल्लास की प्रतिच्छाया प्रकृति के उपकरणों पर पड़ती ज्ञात होती है। वर्णन परम्परानुगत है। कवि प्रकृति को पृष्ठभूमि के रूप में देना चाहता है; पर शब्द-जाल का निर्माण करने के अतिरिक्त आंशिक सफलता ही प्राप्त करता है।

शेक्सपीयर ने 'किंग लियर' (King Lear) में प्रकृति को पृष्ठभूमि के रूप में रखा है। पागल लियर के मस्तिष्क में हाहाकार मचा है और पृष्ठभूमि में भयानक तूफान, बादलों की गड़गड़ाहट और बिजली की कड़क है। वहाँ लियर के हृदय का हाहाकार प्रकृति में उतर आया है। अन्धड़ और तूफान, वर्षा की झड़ और लहरों का आलोड़न-विलोड़न उसी हाहाकार का प्रतीकत्व करते हैं। लीयर चाहता है कि सृष्टि इसी दुरन्त हाहाकार में लीन हो जाय। संक्षेप में हृदय की वेदना के सफल चित्रण के लिए महाकवि ने उसके उपयुक्त पृष्ठभूमि चुनी। ज्योत्स्ना के हँसते हुए चित्रपट पर क्या यह चित्र उतर पाता? इस प्रकार का प्रकृति-निरूपण काव्य में जीवन देता है।

प्रकृति ने अपने दोनों रूपों में आधुनिक हिन्दी-काव्य और कवियों को प्रभावित किया। साहित्यिक जागरण के नवयुगारम्भ में ही गत-युग के विचारों के प्रत्यावर्तनरूप में प्रकृति के प्रति कवियों की विचार-धारा पलटी, और उन्होंने प्रकृति को आलम्बनरूप में ग्रहण किया। प्रकृति के व्यापारों की मोहकता, उसकी नियमितता, उसकी अपरिमेय सुन्दरता और उत्तेजना-शक्ति ने कवि-कल्पना को नवीन आधार और नूतन क्षेत्र प्रदान किया।

आलम्बन के क्षेत्र में प्रकृति स्वयं वर्ण्य-विषय बनती है। इस रूप में गृहीत प्रकृति उद्दीपन से स्वतन्त्र रहती है। इस अवस्था में आकर प्रकृति उपेक्षित नहीं रह सकी; कवियों ने अपनी भावना, वैज्ञानिक सिद्धान्तों और धार्मिक भावों का संतुलन, दार्शनिकता का आग्रह और मानसिक क्रिया-कलाप की प्रतिकृति उसमें देखी, अतः काव्य-क्षेत्र में प्रकृति के कारण कई विभिन्न भावनाएँ आईं।

प्रकृति चतुर्दिक् फैली हुई है। चन्द्र-ज्योत्स्ना, जंगलों की रंगीनी, निर्झरों की झर-झर स्वर-लहरी, पर्वतों की विशालता आँखों के सामने है। बादल आकाश में उड़ते हैं, उषा हँसती, इठलाती, बल खाती आती है, तथा नीलाम्बर में सलमे सितारे के काम होते हैं। रंगीन चित्र लेनेवाला केमरा हाथ में है, इसके द्वारा चित्र लेने पर प्रकृति का अंग-प्रत्यंग अपनी प्रकृतावस्था में चित्रपट पर उतर आता है। उन चित्रों में चित्रित वस्तु की वास्तविकतामात्र रहती है, उसकी आकृति उसमें दिखाई पड़ती है। प्रारम्भिक अवस्था में कवि के हृदय में भी प्रकृति को उसकी तथ्यगत अवस्था में देखने की भावना वर्तमान रहती है। ऐसी दशा में वह प्राकृतिक उपकरणों के शब्द-चित्र उपस्थित करता है। पर उस चित्र में कलाकार का हृदय नहीं रहता, रहती है सिर्फ उसके हाथ की सफाई और उसे उपयुक्त अवस्था (True—setting) देने का चाव। चित्रगत प्राकृतिक अवस्था के चयन द्वारा उसकी मानसिक स्थिति का पता चलता है; किन्तु प्रत्येक अवस्था में चित्र-लेखक चित्र के बाहर ही रहता है। इस स्थिति में कवि प्रकृति को उसके शुद्ध रूप में चित्रित करता है। कवि अपनी भावनाओं और वृत्तियों का समावेश वहाँ नहीं कर पाता। वह प्रकृति को उसके शुद्ध रूप में देखता है, उसमें अपने मनोभावों को प्रतिफलित होते देखने का वह आग्रह नहीं रखता।

वैसे चित्रों में स्वाभाविकता रहती है, किन्तु अपनापन नहीं; वे प्रशंसा के पात्र हो सकते हैं, प्रेम के नहीं। वैसे चित्रों से 'ड्राइंगरूम' सजाया जा सकता है, हृदय की बस्ती नहीं। उनके सौन्दर्य से मन मुग्ध और हृदय आकर्षित हो जाते हैं, किन्तु सामीप्य की भावना नहीं जगती। प्रकृति के अंग-प्रत्यंग उसमें दीख पड़ते हैं, किन्तु प्रकृति की आत्मा का परिचय नहीं मिलता। इस दृश्य से आँखों को तृप्ति होती है और हृदय को आनन्द मिलता है, किन्तु मानव की आत्मा प्रकृति की आत्मा के साथ मिलकर एकाकार नहीं हो जाती।

इस प्रकार के चित्र उतारने में 'प्रिय-प्रवास' में हरिऔधजी पर्याप्त मात्रा में सफल हुए हैं। इन कविताओं में कल्पनागत निर्मित चित्र सुन्दर है; किन्तु प्रकृति के अर्थों में इनसे कोई विशेषता उत्पन्न नहीं होती। सीधा-सादा प्रकृति-चित्रण है। इसके द्वारा प्रकृति शब्द में गुम्फित अंतःक्षोभ और दार्शनिक सम्मिश्रणता का भाव ग्रहण नहीं होता।

शारद निशि की शोभा विशाल
जगती - ज्योत्स्ना का स्वर्णताल
श्यामल, शुभ शस्यों का प्रसार
गंडक मिथिला का कंठहार
चंद्रिका - धौत बालुका - कूल
कंपित कासों के श्वेत फूल।

—दिनकर

प्रकृति की सुन्दर चित्रकारी इन पंक्तियों में देखने लायक है। कवि की सौन्दर्य-भावना के कारण प्रकृति अधिक प्रभावोत्पादिनी हो सकी है। वास्तविकता के साथ हृदय की कल्पनात्मक रसज्ञता प्रकृति को नव जीवन और नूतन रूप प्रदान करती है।

कवि आगे चलकर केवल प्रकृति की चित्रमत्ता का उपासक नहीं रह जाता, बल्कि वह स्वच्छन्द प्रकृति की आराधना का इच्छुक हो उठता है। कारण, वह स्वयं मुक्त होता है। संवेदनशील और आतुर कवि की आत्मा मानवता के बन्धन, जीवन-युद्ध की विषमता, कृत्रिमता और रूढ़ि-बन्धन से व्याकुल होकर प्रकृति की गोद में आश्रय लेने की अभिलाषिणी हो उठती है। प्रकृति संसार की कठोरता और नासमझी के समुद्र में पोताश्रय है। ऐसी दशा में मानव भी विराट प्रकृति का अंग बन जाता है, और वह प्रकृति की विशाल सत्ता में अपना व्यक्तित्व और स्वतन्त्र अस्तित्व विनिमज्जित कर देता है। वैसी अवस्था में प्रकृति का विरोध मनुष्य से न होकर नगर, उसकी अट्टालिकाएँ मोटर-टमटम की हड़हड़-गड़गड़, कोलाहल तथा कृत्रिमता से होता है—

जीवन में क्षण-क्षण कोलाहल, ज्यों सुख त्यों दुख, सुख-दुख समान;
आती संध्या जाता बिहान, जाती संध्या आता बिहान।
इसलिए जगत में दो ही तो कुछ शान्ति कभी देनेवाले;
है एक प्रकृति की मृदुल गोद, दूसरा प्रेम का मधुर गान।

—नेपाली

जीवन के कोलाहल से आश्रय कवि को प्रकृति की गोद में ही मिलना सम्भव ज्ञात होता है। स्वच्छन्द प्रकृति की यह मौन पुकार 'पन्त' जी के 'मौन-निमंत्रण' में सुनाई पड़ती है—

तुमुल तम में जब एकाकार
ऊँघता एक साथ संसार,
भीरु-झींगुर-कुल की झनकार
कँपा देती तन्द्रा के तार;
न-जाने खद्योतों - से कौन !
मुझे पथ दिखलाता तब मौन !

पहले लिखा जा चुका है कि कवि नगर से अधिक गाँव का प्रेमी है—यद्यपि कवि का यह सापेक्षिक अनुराग सामान्य और दार्शनिक है। गाँव हमें आनन्दित करते हैं, इसके कारण क्या हैं? इसके लिए मनोविज्ञान का दरवाजा खटखटना होगा। फूल स्वतंत्रतापूर्वक खिलते हैं, पक्षी आनन्दित हो गाते हैं, खेतों की हरियाली नई छटा उपस्थित करती है, आँखें दूर क्षितिज पर जाकर टिक जाती हैं—प्रकृति का यह सरल रूप मानव की सौन्दर्य-भावना को तीव्र करता है, और मानव है सदा से सौन्दर्य-प्रेमी। गाँव केवल इसी कारण हमारे आदर का पात्र नहीं। देहात सीधे-सादे जीवन का प्रतीक, कृत्रिमता का त्यागी, सरलता का आगार ज्ञात होता है। वह प्रकृति के अत्यन्त निकट की वस्तु है। नगरों की कृत्रिमता और अस्वाभाविकता यहाँ प्राप्य नहीं। मनुष्य अभी तक इसकी प्रकृतिमत्ता पर पूर्ण आघात नहीं कर सका है, इसे बिल्कुल अपवित्र नहीं कर सका है। अधिकतर ग्रामीणों की प्रवृत्तियाँ सरल हैं, उनकी चित्तवृत्ति उदार है, अतः है काव्य के अधिक उपयुक्त। इन्हीं कारणों से कवि गाँवों की ओर आकृष्ट है—

कवि ! अषाढ़ की रिमझिम में धन-खेतों में तो जाने दे ;
कृषक-सुन्दरी के स्वर में अटपटे गीत कुछ गाने दे।

× × ×

मैं बच्चों के संग जरा खेलूँगी दूब-बिछौने पर
मचलूँगी मैं जरा इन्द्रधनु के रंगीन खिलौने पर
तितली के पीछे दौड़ूँगी नाचूँगी दे - दे ताली
मैं मकई की सुरभि बनूँगी, पके आम-फल की लाली।

—दिनकर

कवि दूब के बिछौने पर खेलना चाहता है, खेतों की हरियाली से अपना मन हरा करना चाहता है और चाहता है कि वह भी कृषक-सुन्दरी के स्वर में स्वर मिलाकर कुछ गीत गाए।

प्राकृतिक दृश्य स्वभावतया सौन्दर्यगत आनन्द प्रदान करते हैं। दृश्य का प्रभाव मनोविकारों पर पड़ता है और मनुष्य आह्लाद से सिंचित हो उठता है। प्रकृति ऐसी अवस्था में जड़ नहीं रह जाती। प्रकृति की आत्मा अप्रत्यक्ष रूप से व्याप्त ज्ञात होती है। कवि उस आत्मा की उपस्थिति का अनुभव करता है। प्राकृतिक जगत् सौन्दर्य का साहाय्य प्राप्त कर मानवता के साथ संबंध जोड़ता है। कवि की आत्मा प्रकृति की आत्मा के साथ बँध जाती है और कवि नूतन चित्र उपस्थित करता है। ऐसे चित्रण में कवि फोटोग्राफर मात्र नहीं रह जाता, वह चित्रकार हो उठता है। चित्रपट और रंग चित्र के बाह्य उपकरण-मात्र रह जाते हैं। चित्र में कवि की आत्मा स्पष्टतया दीख पड़ती है। चित्रण पूर्ण और सजीव हो उठता है। प्रकृति में कवि सहानुभूति और सरलता के दर्शन करता है और करता है प्रेम और उल्लास की उपलब्धि। प्रकृति के प्रेम और उल्लास मानव-जगत् में प्रसारित हो उठते हैं, और अंतःप्रकृति का पुजारी कवि अधिकाधिक मानवोचित सहज-गुण-सम्पन्न होने का अभिलाषी हो उठता है। प्रकृति यहाँ शिक्षक और शुभेच्छुक है :—

Read Nature ; Nature is a friend to truth ;
Nature is Christian ; preaches to mankind ;
And bids dead matter aid us in our creed.

—प्रकृति के ग्रंथ का अध्ययन करो। प्रकृति सत्य की पुजारिन है। प्रकृति धार्मिक है और मानवता की शुभेच्छुक। इस प्रकार कवि प्रकृति को मानवता के परम सहायक, संवेदनशील और धार्मिक रूप में ग्रहण करता है।

वह जागृति का जीवित - गीत
अलि - बाला गाती सु - पुनीत
गूँज उठे इस मधुता से
दुर्बल हृदयों में नव - बल,
जीवन का, जग का मंगल।

—पंत

कवि प्रकृति का परिचय प्राप्त कर उसे अव्यक्त रूप में नहीं देख सकता और वह कवि के समक्ष मूर्तिमती हो उठती है। आत्मा के साथ शरीर के संयोग से नवीन आकृति का उद्भव होता है। मूर्तिमत्ता स्वीकार कर कवि उस मूर्त में प्राणप्रतिष्ठा का आग्रह करता है।

रूपसि तेरा घन केश - पाश !
श्यामल-श्यामल कोमल-कोमल
लहराता सुरभित केश-पाश !
नभ - गंगा की रजत धार में
धो आई क्या उन्हें रात ?
कम्पित हैं तेरे सजल अंग,
सिहरा-सा तन है सद्यस्नात !
भींगी अलकों के छोरों से
चूतीं बूँदें कर विविध लास।
रूपसि तेरा घन केश-पाश !

—महादेवा

वर्षाकालीन प्रकृति-सुन्दरी का पूर्ण चित्र कवयित्री ने उपस्थित किया है। आँखों के सामने सहज-स्वाभाविक मूर्ति प्रत्यक्ष हो उठती है। काले-काले मेघ आकाश की नीलिमा में निमज्जित हो मुक्त-केशिनी प्रकृति के केश-कलाप का वस्तुतः प्रतीकत्व करते हैं। 'नभगंगा'''रात' तक पहुँचते-पहुँचते इनकी आर्द्रता का आभास मिलता है और 'कम्पित'''स्नात' में आकर सद्यःस्नाता श्यामांगिनी का मूर्तिमान रूप दृश्य जगत् का विषय हो जाता है। 'भींगी अलकों के छोरों से चूतीं बूँदें कर विविध लास' में वर्षा की झड़ और प्रकृति की मुक्त वेणी का चित्र स्पष्ट हो उठता है।

उपर्युक्त अवस्था के प्रकृति-चित्रण में कवि अपने 'मूड' (Mood) और प्रवृत्ति को प्रकृति से अलग रखने में समर्थ है—इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि वह प्रकृति की विशेष अवस्था का मनोनुकूल चित्र उपस्थित करता है। इस प्रकार की निरानुरागिता स्तुत्य है ; किन्तु प्रत्येक दशा में सम्भव नहीं।

कवि प्रकृति को अपने हृदय का चित्र मानने लगता है।

इस तरह मेरे चितेरे हृदय की
बाह्य प्रकृति बनी चमत्कृत चित्र थी।

—पंत

मानव अपनी मानसिक दशाओं को प्रकृति में प्रतिफलित देखता है, एक ही प्राकृतिक दृश्य का प्रभाव विभिन्न मनोवृत्ति के व्यक्ति पर विभिन्न परिस्थिति में विभिन्न रूप से पड़ता है। ऐसी अवस्था में कवि भी अपने मनोभावों का आरोप प्रकृति में करता है। सुख में प्रकृति प्रसन्न, रमणीय और आनन्दवर्द्धक ज्ञात होती है, और दुःख में रोती और सन्तप्त। पूर्णिमा का चाँद विरही को सन्तप्त और संयोजी को हर्षित करता है। यह सदा ध्यान में रखना चाहिए कि प्रकृति पर कवि तथा उसके निर्मित पात्र के मनोभावों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जिस प्रकार रंगीन चश्मा पहननेवाले व्यक्ति को संसार रंगीन मालूम पड़ता है, उसी प्रकार कवि अपनी भावनाओं को प्रकृति के उपकरणों में चित्रित पाता है।

एक दिन संध्या थी;
मलिन उदास मेरे हृदय पटल सा
लाल-पीला होता था दिगन्त निज क्षोभ से
यमुना प्रशान्त मन्द-मन्द निज धारा में
करुण-विषादमयी,
बहती थी धरा के तरल अवसाद-सी।

—प्रसाद

कवि-निर्मित पात्र के दुखी होने के कारण सम्पूर्ण प्रकृति करुण और विषादमयी आकृति धारण कर लेती है। संध्या की वही लाली जो जीवन और स्नेह का राग देती थी, विषादयुक्त होने के कारण और ही दृश्य उपस्थित करती है। यह वही संध्या है, जिसके लिए कवि अपने सुख के क्षण में लिखता है—

उतरती हरे खेत में इधर
खींचकर संध्या स्वर्ण-दुकूल;
व्योम की नील वाटिका बीच
उधर हँस पड़ते अगणित फूल।

अपने मनोविकारों का आरोप प्रकृति में कर कवि उसे संवेदनशील और करुणा का अक्षय भाण्डार समझ बैठता है। 'ओस' रात्रि की आँखों के आँसू का प्रतीकत्व करता है, निर्झर का उन्मादकारी निनाद विषाद का सकरुण संगीत बन जाता है और बन जाती है चाँद की हँसी कलेजे को पार करनेवाला तीर;—

दुःख यहाँ भी आ पहुँचा क्या निर्झर जो तुम रोते हो;
किस पीड़ा में हे प्रपात ! गिरि से गिर जीवन खोते हो।
तुम मत रोओ इस दुखिया के विकल हृदय को रोने दो;
दृग-अम्बुधि में मेरी छोटी जीवन-तरी डुबोने दो।

—गुरुभक्त सिंह

कवि को प्रकृति-सहानुभूति के कारण निर्झर और प्रपात के मिस रोती ज्ञात होती है; किन्तु यह सत्य और वास्तविकता से पोषित नहीं। प्रकृति न तो करुण है और न न्यायशील। कवि अपने मनोभावों के द्वारा चित्रित प्रकृति को अपने अनुरूप ग्रहण करता है। इस विचार-धारा के प्रत्यावर्त्तन के रूप में प्रकृति असंवेदनशील और निष्ठुर मानी जाती है। ऐसी दशा में प्रकृति कवि के 'मूड' से प्रभावित नहीं ज्ञात होती। वैसे कवियों को प्रकृति की चरम शान्ति का पाठ नहीं पढ़ाती। कठोरता है उनके विचार में प्रकृति का शाश्वत नियम।

मेरे दुख में प्रकृति न देती
क्षणभर मेरा साथ
उठा शून्य में रह जाता है
मेरा भिक्षुक हाथ;
मेरे निकट शिलाएँ, पाकर
मेरे श्वास-प्रवाह
बड़ी देर गुंजित करतो
रहतीं मेरी आह।"

—रामकुमार वर्मा

प्रकृति उपर्युक्त अवस्था में कवि का साथ नहीं देती। जीवन की निराशाएँ जब अन्तिम छोर पर पहुँच जाती हैं, तो भावों के आरोप के लिए मनोदशा की अनुकूलता नहीं रह पाती।

प्रकृति चिर-दुखी मानवता को आनन्द और सौन्दर्य का अक्षय भाण्डार समर्पित करती है, ऐसा इसे संवेदनशील और सहानुभूतिपूर्ण माननेवालों का विश्वास है। कवि प्रकृति की इस करुणा से लाभ उठाकर उत्साह की भीख और उल्लास का पाठ चाहता है। वह चाहता है कि उसकी आत्मा में भी प्रकृति का उल्लास, उसकी तीव्रता, उसके वेग आ जायँ, जिसके कारण

वह संसार को अक्षय संदेश दे सके। वह इच्छुक है कि प्रकृति उसकी अन्तरात्मा को वह बल प्रदान करे, जिससे वह अपने गीतों को अमर कर सके। संक्षेपतः वह प्रकृति से प्राण (Inpsiration) की प्रार्थना करता है—

निर्झर की अजस्र झर-झर !
आओ मन, नव पाठ सीख लो
इस गिरि-निर्झर के रव से,
यह निर्मल जल स्रोत गिर रहा
गिरि के चरणों में कब से।
अपनी वीणा में स्वर भर—
आओ इसके पास बैठकर—
यह अनन्त गाना गा लो।
—पंत

निर्झर अजस्र धारा में झर रहा है। कवि चाहता है कि उसकी कविता-धारा भी अविराम गति से सदा प्रवाहित रहे। कवि का यह चिरकालीन मोह सत्य है !

[विशाल भारत, भादो, १९९६]

कलाकार की आलोचनात्मक प्रतिभा

राजशेखर ने काव्यमीमांसा में प्रतिभा को दो प्रकार का माना है—कारयित्री और भावयित्री। कारयित्री प्रतिभा कवि अथवा कलाकार में मानी जाती है जिसके द्वारा रचनात्मक साहित्य में भाव-योजना अथवा मूर्त-विधान संगठित होता है, और भावयित्री प्रतिभा की स्थिति पाठक अथवा आलोचक में समझी जाती है जिसके द्वारा कलाकार की भावनाओं का भावन सम्भव होता है। रचनात्मक कल्पना से भिन्न ग्रहणशीला (receptive) कल्पना की स्थिति मनोवैज्ञानिकों ने भी स्वीकार की है! ग्रहणशीला कल्पना कला-चित्रों के हृदयंगम कराने में समर्थ होती है; किन्तु आलोचना केवल बिम्ब-ग्रहण अथवा भावनमात्र नहीं; इसके लिए व्याख्यात्मकता नितांत रूप में अपेक्षित है। प्रतिभा को सहजा, आहार्या और औपदेशिकी मानकर भी मति अथवा प्रज्ञा (talent) और प्रतिभा (genius) के सूक्ष्म भेद का अन्तर स्पष्ट नहीं किया गया है। नवोन्मेष-शालिनी प्रज्ञा को प्रतिभा के रूप में स्वीकार कर उनके सम्बन्ध-निर्देश का प्रयास अवश्य है। प्रतिभा स्वाभाविकी अथवा सहजा है और मति प्रयासकृत। मनुष्य में सहजानुभूति अथवा अन्तर्वृत्ति है अवश्य, किन्तु मनुष्य के सारे व्यापार सहजानुभूति-प्रेरित अथवा सहजानुभूति-जन्य नहीं। अन्तर्वृत्ति के संस्कार में ही मानवीयता का कल्याण-मार्ग प्रशस्त होता है। अन्तर्वृत्ति के साथ प्रज्ञा का प्रत्यक्ष अथवा प्रच्छन्न सम्बन्ध है, अतः कुछ विचारकों ने दोनों की भिन्नता न देख प्रज्ञा को सहजा मान लिया। कारयित्री और भावयित्री प्रतिभा को भिन्न-भिन्न समझने का कारण इनके सहज स्वरूप हैं। कारण, भिन्नता स्वीकार करनेवाला विचारक इनकी अपरिहार्यता को मानता है, अन्यथा कारयित्री प्रतिभा भावयित्री बन जाती और भावयित्री कारयित्री। जाति (Species) में भिन्नत्व से अभिन्नत्व की ओर जो प्रगति और प्रवृत्ति है, वही सहजा वृत्ति की संज्ञा प्राप्त करती है।

व्यक्तित्व-विकास के मूल में, अतः, मूलतया जन्मजात वैयक्तिक संस्कार और परिस्थितियों के विरोध-सामञ्जस्य और सम्बन्ध-निर्वाह की परिणतियों का प्रश्न है।

सभी व्यक्तियों में प्रतिभा होती है; सामान्य अथवा साधारण कहकर जिसको अवहेलना की जाती है—उसमें भी किसी-न-किसी प्रकार की प्रतिभा अवश्य होती है। विकसित होने की सम्भावना और परिस्थिति-जन्य प्रेरणा द्वारा इसका विकास सम्भव होता है और अभ्यास द्वारा स्वरूप-निर्धारण। प्रज्ञा जहाँ सहजा अथवा प्रयासकृत हो सकती है, वहाँ प्रतिभा जन्मजात संस्कार के रूप में स्वीकृत और प्रतिष्ठित है। सहजा प्रज्ञा और प्रतिभा में सामान्यतया मात्रा का ही अन्तर, ऐसी अवस्था में, सम्भव होगा। क्षमता और प्रतिभा विभिन्न शक्तियाँ हैं; किन्तु क्षमता-प्राप्ति की प्रतिभा ही क्षमता को समर्थ बना सकती है। प्रतिभा अन्तर्वृत्ति है, किन्तु जन्मगत संस्कार नहीं; यह वैयक्तिक और व्यक्ति-सम्बन्धिनी अवश्य है, किन्तु इसका सम्बन्ध मनः प्ररस (Psychoplasm) से नहीं। कल्पना-विधान निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का अन्वित सामञ्जस्य और सामञ्जस्यपूर्ण समन्वय है। कारयित्री प्रतिभा अनुकरण के नवीन विधान द्वारा नूतन निर्माण करने की क्षमता से सम्बद्ध है।

रचनात्मक विधान और भावन-क्रिया अथवा व्यापार की प्रक्रियाओं के विश्लेषण द्वारा एक विशिष्ट तत्त्व की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट होता है। कलाकार में अनुभूतियाँ और भावनाएँ जगती हैं, विचार उत्तेजित होते हैं। वह इन प्रतिक्रिया-जन्य भावनाओं को मूर्त स्वरूप देता है अथवा घटनाओं के वर्णन-चित्रण द्वारा अपनी भावनाओं की ओर संकेत करता है। संकेत की क्षमता और पूर्णता माध्यम के सम्यक् चयन, बोध-गम्यता और सामान्य आधारत्व में है। यह क्षमता सहज अथवा अन्तर्वृत्ति-जन्य नहीं, बल्कि अभ्यास-गत और आयास-जन्य ही है। कला-सृष्टि-जन्य आनन्द मूलतया जनक-जननी के आनन्द-जैसा है जिसमें नव्य-निर्माणजन्य सन्तोष-परितोष का स्वर है। इस सृष्टि के बाद कवि स्वयं पाठक होता है; काव्य-पाठ द्वारा प्राप्त आनन्द भावक-गत है, निर्माता का नहीं। ऐसी अवस्था में प्रत्येक निर्माता या रचनात्मक कलाकार आवश्यक रूप में भावक भी हुआ करता है। किन्तु इसका यह कदापि अर्थ नहीं कि प्रत्येक कलाकार आलोचक हुआ। कारण, प्रत्येक भावक आलोचक अथवा समालोचक नहीं। वस्तुतः आलोचना के मूल में 'भावकत्व' अथवा रुचि-विधान का बौद्धिक आधार है। इसी अर्थ में भावक और आलोचक की भिन्नता है। प्रत्येक आलोचक भावक होगा, किन्तु प्रत्येक भावक आलोचक नहीं। सौंदर्य- बोध-सम्बन्धी रुचि-भेद और रुचि-

वैचित्र्य के विवेचनात्मक आधार पर ही आलोचना के भव्य प्रासाद का निर्माण सम्भव हो सकता है। वैज्ञानिक आलोचना की आत्मनिष्ठता और पूर्वग्रह की मीमांसा यहाँ अपेक्षित नहीं, किन्तु इतना तो निस्संकोच भाव से स्वीकार करना पड़ेगा कि वैज्ञानिकता और युक्तिसिद्धता के स्थान में युक्तिसिद्धीकरण ही रहता है।

कला-प्रवृत्ति और चेतना को नैसर्गिक, अप्रयासकृत, जन्मजातएवं स्वतः-स्फुरित स्वीकार कर विवेचनात्मकता और व्याख्यात्मकता को अस्वीकार किया गया है; फलस्वरूप चैतन्य अचेतनता अथवा अवचेतन चैतन्य की कल्पना व्यावहारिक नहीं समझी जाती। इस प्रश्न पर 'कलागत अन्तश्चेतना और अनायास स्फूर्त्ति, शीर्षक निबंध में मैंने विचार किया है। यहाँ इतना निर्देश ही पर्याप्त है कि वस्तु अथवा प्रकृति की प्रेरणा अथवा प्रतिक्रिया से जागरित भावनाएँ अपने तीव्रतम क्षणों में कला नहीं बन पातीं। स्वयं विचार, अनुभूतियाँ अथवा भावनाएँ कला नहीं—कला-विषय अवश्य हैं। कला का स्वरूप-विधान अभिव्यक्ति के माध्यम से होता है, अतः कला की कलात्मकता अभिव्यक्ति की सफल क्षमता में है। कला के माध्यम से कलाकार अनुभूति के क्षणों के पुनर्जीवन और पुनर्निर्माण का अभिलाषी है, अतः सूक्ष्म भाव-नाओं के मूर्त्त-विधान में निर्माण करने की प्रतिभा के साथ अभिव्यक्ति की क्षमता अथवा कलात्मक विधान की दक्षता अपेक्षित होगी। और, अभिव्यक्ति के माध्यम का निर्णयात्मक चयन कला-प्रतिभा का प्रथम लक्षण है।

कला-कृतियाँ विच्छिन्न नहीं होतीं; उनका मूल्य ऐतिहासिक—अनुबन्ध में अपनी स्वतन्त्र स्थिति—पार्थक्य—के कारण है। पार्थक्य के मूल में नवीन सामयिकता और वैयक्तिकता है। जहाँ इतिहास मूक हो जाता है, वहाँ परम्परा से आते हुए अलक्ष्य विकास की परिणति कला-रूप में प्रत्यक्ष होती है। इतिहास की भूमिका में कला के दर्शन करने के स्थान में कला के माध्यम से युग-विशेष की अन्तःप्रकृति को अधिक स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है। प्रत्येक विचारक के सामने कला प्रत्यक्षतः दो रूपों में आती है—परम्पराभुक्त तथा रूढ़िग्रस्त और नवीन, जिसे मौलिक कहने का आवेश आलोचकों में पाया जाता है। मौलिकता परम्परा से विच्छिन्न स्वतन्त्रता में नहीं, बल्कि तत्त्वों के संशोधन, मिश्रण, रूपान्तर और शोध में है। कालान्तर में प्रत्येक आधुनिकता की परिणति रूढ़ि और परम्परा में होती है, एवं कोई आधुनिकता पूर्णतया आधुनिक नहीं और न कोई नवीनता पूर्णतया नवीन। कलागत शैलियों का इतिहास इस आवश्यक तथ्य का संकेत उपस्थित करता

है। साहित्यिक युग को नई दिशा अथवा मोड़ देनेवाला कलाकार इस अर्थ में जागरूक होता है; उनकी चर्चा व्यर्थ-सी है जो केवल बँधी लीक पर चलनेवाले व्यवसायी हैं।

कला की परिशंसा अथवा मूल्यांकन के विभिन्न आधार हैं। कलागत वादों का विवाद मूल्य और स्वरूप के परिवर्तित दृष्टिकोण का सूचक हुआ करता है। कला-युग का वैशिष्ट्य इसी दृष्टिकोण की परिणति है। युगान्त युगारम्भ ही है; क्योंकि दो भावधाराओं के स्रोत साथ-साथ दीख पड़ते हैं। किन्तु नवीन विधान में परम्परागत वैधानिक भोथरेपन के कारण उत्पन्न अचेतनता से मुक्ति पाने का प्रयास लक्षित होगा। भावनाओं और विचारों के विकास के साथ पुरानी अभिव्यक्ति-शैलियाँ शिथिल-सी होकर प्रभविष्णुता और उत्तेजना खो बैठती हैं। जागरूक कलाकार इस विच्छेद के दर्शन करता है और परम्परागत विधान के संस्कार अथवा नव-रूप-विधान द्वारा विच्छिन्नता एवं पार्थक्य की जड़ता को दूर कर चैतन्य का प्रयासी होता है। इस प्रक्रिया द्वारा उसकी अभिव्यक्ति में आवश्यक क्षमता आती है। रीतिकालीन साहित्य पर जहाँ तत्कालीन सांस्कृतिक चेतना की स्पष्ट छाप है, वहाँ सामान्य रूप से भक्तिकाल के अन्तिम चरण की वैधानिक संकीर्णता और ऊमस, स्थिरीकृत रूप-योजना, रीतिमत्ता, गीत- विधान और विशदीकृत चित्रांकन के स्थान में संक्षिप्त रूप-विधान के साथ उक्ति-गत चमत्कार के कारण कलात्मकता-सृष्टि की ओर ध्यान गया। भक्ति-कालीन व्यक्तित्वहीन वैयक्तिकता के स्थान में वैयक्तिकता-हीन व्यक्तित्व के चित्रण हैं। रूप-विधान जितना रूढ़ रहा है, प्रतिक्रिया-रूप नव्य-विधान उतना ही अधिक स्पष्ट रूप ले सका। परम्परागत कला-सम्बन्धी रूढ़िवादिता के विरोध में रोमानी चेतना फ्रेंच साहित्य में जिस स्पष्टता के साथ लक्षित हुई, उतनी स्पष्टता के साथ अँगरेजी साहित्य में नहीं, कारण, अँगरेजी साहित्य में रूढ़ि का वह प्रबल आग्रह नहीं था जैसा फ्रेंच-साहित्य में, फलतः विच्छिन्नता उतनी स्पष्ट नहीं रही।[1] छाया-

---

१. तुलना कीजिए—English literature, of a less codified and disciplined nature than that of France, was less subservient to an explicit system of rules which had been, so to speak, officially registered by enlightened opinion, incorported in manners, observed by learned bodies and upheld by an academy.

—Emile Legouis and Louis Cazamia—A History of of Englis Literature. P. 1027

वादी अतिच्छायात्मकता रीतिकालीन और परवर्ती काल की स्थूल स्थूलता की प्रतिक्रिया है। मुगल-कलीन चित्रकला के सम्बन्ध में श्रीरायकृष्ण दास ने 'भारत की चित्रकला' नामक ग्रंथ में लिखा है—"अब चित्रों में हद से ज्यादा रियाज, महीन-कारी, रंगों की खूबी, तथा शान-शौकत एवं अंग-प्रत्यंगों की लिखाई, विशेषतः हस्त-मुद्राओं में बड़ी सफाई और कलम में कहीं कमजोरी न रहने पर भी, दरबारी अदब-कायदों की जकड़बंदी और शाही दबदबे के कारण इन चित्रों में भाव का सर्वथा अभाव, बल्कि एक प्रकार से सन्नाटा-सा पाया जाता है, यहाँ तक कि जी ऊबने लगता है।" और इसके विपरीत राजपूत-कलम में प्रतीकात्मकता और लय-भावाभिव्यञ्जन का अनाहार्यत्व और सहजता प्रदीप्त और रुचिर रंगों का वैविध्यपूर्ण उपश्लेष, लोक-जीवन की प्रेरणा और आध्यात्मिक भावावेश की प्रचुरता रही। रूढ़िवादिता और उसके विरल कलात्मक साधन के विरुद्ध रोदाँ (Rodin) ने सत्य और यथार्थवादिता की प्रवृत्ति का परिचय दिया।[२] प्रभाववादियों की सीमाओं से असंतुष्ट होकर वान गो (Van Gogh) ने प्राकृतिक रूपों को कुछ विकृत कर व्यक्तिगत और परिस्फुट निरूपण उपस्थित किया। शास्त्रीय भाव-धारा के विरोध में रोमानी प्रवृत्ति और रोमानी काल्पनिकता के विरोध में प्रभाववादी चेतना का विकास स्पष्ट ही है। विरोध द्वारा नव्य-विधान के मूल में परम्परागत भाव-धारा अथवा रूप-विधान के संशोधन द्वारा नूतन कलात्मकता की प्रतिष्ठा रही है। आलोचक ने प्रत्येक नवीन युग की रचनात्मक प्रवृत्ति के यथोचित मूल्यांकन में मंदता ही प्रदर्शित की है : किन्तु प्रत्येक युग की कलात्मक प्रवृत्ति पूर्ववर्त्ती युग की रूढ़िवादिता एवं परम्पराभुक्तता का विरोध कर नव-निर्माण की प्रेरणा देती है।

---

२ The accuation—astounding then and, retrospectively, as amazing now—that his Age d'airain (1877) and his Sean Baptiste (1882) were casts was hurled at Rodin by the jury sf Salon. Behind it lay the instinct of self preservation official academicism whose meagre artistic resources were being totally ruined by the passion for truth and realism which inspired Rodin's figures so imperiously and authoritatively—Rodin (Les Edition

नवीन युग और प्रवृत्ति की उद्भावना में विगत युग की सम्भावनाओं की समाप्ति और उसकी चेतना निहित रहती है। इसके अभाव में नवीनता-विधायिका प्रवृत्ति के दर्शन नहीं होते। बोसेनेक ने लिखा है कि सौन्दर्य-शास्त्र कला-निर्देशक के रूप में व्यावहारिकता का सम्बन्ध छोड़ देता है और सौन्दर्य-बोध उन सभी चिन्ताधाराओं का विरोध करता है जो पूर्वकालीन प्रचलित धारणाओं के अनुरूप है।[१] किन्तु इतना ध्यान रखना होगा कि कला-प्रवृत्ति के निर्धारण, निरूपण और स्वरूप-विधान में जागरूक कलाकार का चैतन्य सौन्दर्यदर्शन है जो पूर्ववर्ती आदर्शों की रूढ़िबद्धता की आलोचना तथा परम्पराभुक्तता के विरोध का फल है और जिसमें परम्परा के नवीन सौन्दर्य-विधान के दर्शन सम्भव है। कलाकारों, विशेषतया कवियों ने समसामयिक मान्यताओं और पूर्ववर्ती आदर्शों का खण्डन कर निजी मान्यताओं की स्थापना की है। कालिदास के पूर्व अश्वघोष और भास के नाटक प्रसिद्ध थे। 'मालविकाग्निमित्र' नामक नाटक की प्रस्तावना में वसन्तोत्सव के अवसर पर महाकवि कालिदास-कृत 'मालविकाग्निमित्र' का अभिनय दिखलाने के लिए विद्वत्परिषद् की आज्ञा का उल्लेख सूत्रधार करता है। और उसके इस उल्लेख पर पारिपार्श्विक पूछता है, लब्धप्रतिष्ठ भास, सौमिल्ल, कविपुत्र आदि कवियों के रूपकों को छोड़ आधुनिक कवि-रचित नाटक के लिए विद्वानों का आग्रह क्यों होना चाहिए? और सूत्रधार के रूप में कालिदास का आलोचक उत्तर देता है—

"पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढ़ः परप्रत्ययनेयबुद्धिः।"

[अर्थात् प्राचीन जितने काव्य हैं सभी निर्दोष हैं और नवीन सब सदोष, ऐसी कोई बात नहीं। सुधी समीक्षक परीक्षा करके ही उत्तम का ग्रहण करते हैं। दूसरे के विचारों को बिना समझे-बूझे माननेवाला मूढ़ है।]

भास के नाटकों के समीक्षात्मक ज्ञान के कारण ही कालिदास की कृतियों में अपूर्व रचना-कौशल, स्वाभाविक चारित्रिक विकास, घटना-संयोजन, नव-अलङ्कार-विधान और अपूर्व चमत्कार का आयोजन है। कालिदास की परम्परा का आलोचना करते हुए भवभूति ने लिखा—

* यद्वेदाध्ययनं तथोपनिषदां सांख्यस्य योगस्य च
ज्ञानं तत्कथनेन किं न हि ततः कश्चिद्गुणो नाटके।
यत्प्रौढ़त्वमुदारता च वचसां यच्चार्थतो गौरवं
तच्चेदस्ति ततस्तदेव गमकं पाण्डित्य वैदग्धयोः॥

(मालती माधव)

इस प्रकार कालिदासीय भावुकतापूर्ण वैदग्ध्य के स्थान में पाण्डित्यपूर्ण वैदग्ध्य का विधान भवभूति को मान्य है और कालिदास की शृंगार-प्रधान प्रवृत्ति के स्थान में सहज कारुणिकता को प्रतिष्ठा की गई है। 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः' में वस्तुनिष्ठ स्थूल सौन्दर्य की आलोचना कर कवि ने नवीन सूक्ष्म स्वरूप-विधान की ओर संकेत किया है। कारण, क्षण-क्षण की नवीनता में वस्तु का प्रधानता नहीं—जैसा श्री गुलाबरायजी समझते और मानते है,[४] बल्कि भावात्मकता और आत्म-निष्ठता है जो पल-पल नवीन सौंदर्य के दर्शन करती है। क्लासिकल युग की धारणाओं की आलोचना-सा करता हुआ धर्डस्वर्थ काव्य में भावात्मक संवेग का महत्त्व स्वीकार करता है। कबीर के काव्य का आदर्श है—"मैं कहता आँखन की देखी, तू कहता कागद की लेखी।" और आत्मानुभूति की प्रतिष्ठा कबीर के काव्य में हुई जिसके द्वारा सिद्ध-सामंत-युग और वीरगाथा-काल की आलोचना हो गई। पुस्तकीय ज्ञान और आत्मानुभूति की भिन्नता का ज्ञान कबीर की साधना और काव्य को भिन्नता देता है। इसे विद्यापति की भूमिका में देखने से अधिक स्पष्टता दीख पड़ेगी जिसके अनुसार—

* बालचंद विज्जावइ भासा। दुहुँ नहिं लग्गइ दुज्जन हासा।
ओ परमेसुर हर सिर सोहइ। ई निच्चय नायर मन मोहइ॥

---

* वेदाध्ययन, उपनिषद् सांख्य और योग का ज्ञान नाटक में छाँटने से क्या लाभ? वाणी की प्रौढ़ता और उदारता तथा अर्थ का गौरव यदि नाटक में है तो वही पाण्डित्य और चातुर्य्य का द्योतक है।

४ 'सिद्धांत और अध्ययन' पृ० ६६

*बाल (दूज का) चन्द्रमा और विद्यापति की भाषा—इन दोनों पर दुर्जनों का उपहास नहीं लग सकता। वह चन्द्रमा भगवान शंकर के शीश पर शोभता है, यह भाषा निश्चय ही प्रवीणों (सहृदयों) का मन मोहती है।

तुलसीदास ने इनके समीक्षण-विवेचन द्वारा कविता के उद्देश्य और स्वरूप का आदर्श उपस्थित करते हुए कई मान्यताओं की उद्भावना की—

(१) सरल कवित कीरति विमल, जेहि आदरहिं सुजान।
सहज बैर बिसराइ रिपु, जो सुनि करहिं बखान॥

(२) जे प्रबन्ध बुध नहिं आदरहीं, सो स्रम बादि बाल कवि करहीं।
करति, भनिति, भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कर हित होई॥

(३) हृदय सिंधु मति सीप समाना॥ स्वाति सारदा कहहिं सुजाना।
जो बरसइ बर बारि विचारू। होइ कवित मुकुतामनि चारू॥

—रा० च० मा०

तुलसीदास ने 'सुजान' 'बुध' आदि को काव्य-मर्मज्ञता का आधार माना है; शास्त्रीय क्षेत्र में प्रतिष्ठित और मान्य सहृदय और रसिक को नहीं। 'कान्ता-सम्मित उपदेश' में नहीं, बल्कि भाव और विचार के सामंजस्य में कविता है, जिससे सबका समान रूप से हित होता है। काव्य के माधुर्य-पक्ष से अधिक दृष्टि उसके 'हित'—समन्वय और कल्याण-कामना में है। 'सर्व-हितवाद' और विद्वत्समाज में समादर प्राप्त करने की सामर्थ्य में सार्थकता का प्रतिपादन तुलसी-पूर्व-काल के मानदण्डों की विशद आलोचना है। जायसी ने काव्य में 'विमोहकत्व' को प्रधान गुण माना है, विद्यापति के 'नायक के मनमोहकत्व' को नहीं और तुलसीदास 'मनमोहकत्व' और 'विमोहकत्व' की आलोचना द्वारा 'सर्वहितवाद' की स्थापना करते हैं। रीतिकालीन काव्य के मानदण्ड का स्पष्टीकरण करते हुए 'ठाकुर' ने लिखा है—

मोतिन की सी मनोहर माल गुहै तुक अच्छर जोरि बनावै।
प्रेम को पंथ कथा हरिनाम की बात अनूठी बनाइ सुनावै॥
'ठाकुर' सो कवि भावत मोहि जो राजसभा में बड़प्पन पावै।
पंडित और प्रवीनन को जोइ चित्त हरै सो कवित्त कहावै॥

कलात्मक कौशल, शब्द-गत-नक्काशी, उक्ति-सज्जा की मतवादिता का रहस्य प्राचीन परम्परा का नवीन संस्कार है और रीतिकालीन परम्परा में उसके अभाव के कारण काव्य-स्वरूप की उद्भावनाएँ समृद्ध नहीं हो पातीं। आधुनिक युग में कवि ने केवल युग-चिन्ताओं की ही आलोचना नहीं लिखी है, बल्कि, प्राचीन और नवीन कवियों एवं प्रवृत्तियों की विस्तृत आलोचनाएँ की हैं। प्रसाद, पन्त, निराला और महादेवी की आलोचनाएँ विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं और आलोचना की व्यापक भूमि पर ही इन्होंने काव्य-सिद्धान्तों का निरूपण किया है। कला की रंगीनी और नक्काशी का प्रदर्शन करनेवाले

रीति-काव्य और उसकी परम्परा का पालन करनेवालों की आलोचना करते हुए पंत कहते हैं—

जननि, श्याम की वंशी से ही, कर दे, मेरे सरस वचन
जैसा-जैसा मुझको छेड़ें बोलूँ अधिक मधुर मोहन।
जो अकर्ण अहि को भी सहसा कर दे मंत्र-मुग्ध नत-फन;
रोम-रोम के छिद्रों से मा, फूटे तेरा राग गहन।
('पल्लव')

और छायावाद की काल्पनिक सलज्ज तरलता की आलोचना का संकेत पंत की 'ग्राम्या' में मिलता है—

शयनकक्ष, दर्शन-गृह की शृङ्गार!
उपवन के रत्नों से पोषित,
पुष्प - पात्र में शोभित रक्षित,
कुम्हलाती जाती हो तुम, निज शोभा ही के भार। ('स्वीट पी')

और निराला का गुरु-गम्भीर गर्जन है—

तोड़ो तोड़ो तोड़ो, कारा
पत्थर की, निकले फिर, गंगा-जल-धारा
गृह-गृह की पार्वती
पुनः सत्य सुन्दर शिव को सँवारती।
उर-उर की बनो आरती
भ्रान्तों की निश्चल ध्रुव तारा॥

कलाकार में परिस्थिति-गत प्रतिक्रिया ही स्वरूप नहीं लेती। भावात्मक प्रतिक्रिया के स्वरूप-विधान में परम्परा से प्राप्त विधान की समीक्षा, और उपयुक्तता की विवेचना द्वारा कलाकार अपना विधानात्मक वैशिष्ट्य ग्रहण करता है। इस चेतना के अभाव में उसकी कला प्रभावपूर्ण नहीं हो सकती। कला-विलास और कला-विकास के लिए भावात्मकता का जागरण ही पर्याप्त नहीं हो सकता, बल्कि, माध्यम की चैतन्य-चिन्ता द्वारा अभिव्यक्ति की क्षमता-प्राप्ति भी अनिवार्य है। कलाकार की सफलता का रहस्य काव्य की उद्गम-सूचिका वृत्तियों में ही नहीं; बल्कि अभिव्यंजना की क्षमता और उसके स्वरूप में भी है। 'मेघनाद-वध' के सम्बन्ध में लिखते समय कवि-कुल-गुरु श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर का ध्यान इस ओर गया था। "मेघनाद-वध' काव्य की केवल छन्द-रचना और रचना-प्रणाली में नहीं; किन्तु उसके आन्तरिक भाव और रस के अन्दर भी एक अपूर्व परिवर्तन देखा जाता है। यह परि-

चर्तन अपने-आपको भूला हुआ नहीं है। इसमें एक तरह का विद्रोह है। कवि ने तुकबंदी की बेड़ी को तोड़ डाला है और बहुत दिनों से रामायण के विषय में जो हमारे दिल के अन्दर एक भाव शृंखला चली आ रही थी, कवि ने उद्दंडता से उसके बन्धन को तोड़ डाला है।"[५]

पूर्ववर्ती युग की प्रगति सम्भावना की सीमा का स्पर्श कर बंधन बन जाती है। जागरूक कलाकार की सजगता इन सीमाओं और बंधनों की पहचान में है, जिसके कारण उनकी सर्जनात्मक प्रवृत्ति स्वरूप धारण करती है। कलाकार पूर्ववर्ती कला और साहित्य की आलोचना-विवेचना द्वारा कला-प्रेरणा और स्वरूप को जिस रूप में ग्रहण करता है, उसे कसौटी मान जब अन्य कलाकारों की आलोचना करने बैठता है, तब भ्रमात्मक निर्णय उपस्थित करता है। और, उसके निर्णयों की भ्रमात्मकता का विचार कर ही साधारणतया कलाकार की आलोचनात्मक शक्ति में अनास्था प्रकट की जाती है। कलाकार कला का, शब्द का, अर्थ का आलोचक होता है, कलाकार का नहीं। यहाँ कवि-आलोचकों की चर्चा नहीं की जा रही है जिनके सम्प्रदाय में एलियट, रीड, पंत, निराला, अज्ञेय आदि हैं। निराला ने 'पश्यानवद्याङ्गि विभाति गङ्गा भिन्नप्रवाहा यमुनातरङ्गैः (रघुवंश) से 'देखत श्यामल धवल हिलोरे' (तुलसी) में अधिक आर्ट देखा। "कालिदास का संगम-वर्णन बहुत सुन्दर है।...मगर तुलसीदास ने चौपाई के एक चरण में उससे बाजी ले ली।...भाव के वाहक शब्द होते हैं और शब्दों में अर्थ और ध्वनि। श्यामल के साथ श्याम (कृष्ण) की कल्पना को सजीवता देने और काव्य में अपने सांस्कृतिक प्रतीक सुरक्षित रखने की कला में तुलसीदास बहुत आगे हैं। वहाँ भारत का कोई कवि नहीं पहुँचता।"[६] तुलसीदास-सम्बन्धी निर्णय की भ्रान्ति-अभ्रान्ति विचारणीय नहीं, अथवा तुलसीदास के पक्षपात में कवि निराला के मोह-व्यामोह का भी विचार यहाँ आवश्यक नहीं। मुख्य विचारणीय विषय हैं शब्द की ध्वन्यात्मक कुशलता की पकड़ और सांस्कृतिक चेतना के प्रतीक-विधान की पहिचान और इसे ही मैं कलाकार की समीक्षात्मक शक्ति मान रहा हूँ। जागरूक चेतना शब्द-शक्ति के व्यापक विवेचन, गम्भीर ग्रहण-सामर्थ्य, सूक्ष्म चैतन्य-बोध और संवेदन के अभाव में यह शक्ति आ नहीं सकती। श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'ऊर्व्वशी' के तरल, उन्मद, उच्छ्वसित,

---

५ 'प्राचीन साहित्य'—पृ० ६७

६. महाप्राण निराला—पृ०२१६।

चांचल्यमय विलास की भूमिका में ही प्रसाद के सहज-सलज सौंदर्य का निखार स्पष्ट हो सकता है।

कलाकार के समक्ष कई प्रकार की समस्याएँ हैं, काव्य-विषय की, संवेदन के पुनः संस्कार की, पुनःप्रतीति द्वारा आत्म-विस्मरण की, भाव-भाषा-संयोजना की, नवीन प्रतीक-विधान द्वारा भाव के नवीन संस्कारों की संयोजना की और कला-प्रवृत्ति के अनुकूलप्रेषण और निर्देशन की। भाषा के प्राचीन व्यापकत्व की नूतन अव्यापक सीमा तथा बन्धन में नवीन बोध का स्वरूप-प्रकाश चैतन्य और जागरूक कला की चिर समस्या है। चिर संचित सीमाओं और बंधनों को भेदकर नवीन व्यापक और गम्भीर स्पंदन का आवेश-परि स्फुटन कलाकार की साधना है। अव्यापक और नियत व्यापक में व्यापकत्व की पूर्ण रेखाओं के सन्निवेश का आधार-तत्त्व है कलाकार की चेतन आलोच-नात्मक वृत्ति। प्रत्येक कलाकार इस अर्थ में आलोचक है—जागरूक चैतन्य और स्पंदनमय संक्षोभ्यशील।

हिन्दी कविता के विकास की इंगित दिशा

किसी के विकास की इंगित दिशा के अध्ययन करने का तात्पर्य है उसके होनेवाले मूल्य और मूल्यांकन के दृष्टिकोण का विश्लेषण-विवेचन। कविता का महत्त्व सदा एक दृष्टिकोण के कारण नहीं। प्रत्येक युग, प्रत्येक सांस्कृतिक स्तर और यहाँ तक कि प्रत्येक पाठक के लिए विभिन्न उद्देश्य और कारण हैं। एक ही व्यक्ति विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न प्रकार की कविताएँ पढ़ता और उनसे आनंद अथवा संतोष लाभ करता है। व्यापकता की दृष्टि से आनंद को यदि हम उद्देश्य समझें, जिसे साहित्य-क्षेत्र में रस और दार्शनिक क्षेत्र में अमृत की संज्ञा मिली है, तो उसकी सीमा इतनी विस्तृत है कि साधारण संतोष से लेकर आध्यात्मिक तन्मयता तक उसकी कोटि में आ जाती है। आनंदावस्था वस्तुतः मानसिक अवस्था है जिसमें संघर्ष एवं विकल्प का विलयन एक चैतन्य-धारा में हो जाता है; वह निष्क्रिय नहीं, क्योंकि चेतना जागरित रहती है। इस प्रश्न पर विचार करने के लिए अतः देखना होगा कि मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास किस दिशा में होने जा रहा है और वह किन मूल्यों से अनुप्राणित हो सकेगा।

कविता कवि और पाठक की अंतश्चेतना की परख का माध्यम है और दोनों के संबंध और उनके निर्वाह को समस्या ही कविता को स्वरूप देती आई है। कविता के विकास की इंगित दिशा पर विचार करने के लिए समस्त मानवीय चेतना और उसकी अभिव्यक्ति के माध्यम की ओर ध्यान जाना केवल आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य है। कवि और पाठक मनुष्य हैं, और मनुष्य विकासशील प्राणी। परिस्थितियों ने मनुष्य को स्वरूप दिया है और मनुष्य ने उन्हें नवीन स्थिति एवं नूतन प्रेरणा। सभ्यता का इतिहास इस संघर्ष और सहयोग की विस्तृत कथा है, संस्कृति जिसकी अन्तश्चेतना। सभ्यता और संस्कृति में अन्तर है, किन्तु इनकी आन्तरिकता

विच्छिन्न नहीं। मानव की प्राणधारा और संजीवनी शक्ति ही इन स्वरूपों में अभिव्यक्ति पाती रही है। कविता के विकास और रूपमत्ता की समस्या में मानवीय प्राणधारा के स्वरूपविधान का प्रश्न अन्तर्निहित है। कलाकार के सामाजिक व्यक्तित्व की चर्चा इधर अधिक होती रही है। समाज और व्यक्ति के संबंध में दो समानान्तर विचारधाराएँ प्रवाहित हैं; एक है साम्यवादी विचारधारा जिसमें व्यक्ति व्यक्तिन होकर सामाजिक व्यक्तित्व एवं अहं का परमाणु-तत्त्व रह जाता है और दूसरी धारा, किसी अच्छे शब्द के अभाव में व्यक्ति-स्वातंत्र्य के प्रेमियों की है जो व्यक्ति को महान और शीर्ष-स्थानीय समझती है। इन दोनों धाराओं का संगम जिस दिशा का संकेत करता है, उसी में मानव की नवीन चेतना का विकास परिलक्षित होता है। समस्याएँ जिस प्रकार उपस्थित हो रही हैं उनके संबंध में निश्चित भविष्यद्वाणी करना उपयुक्त नहीं होता और समस्याएँ भी कुछ इस प्रकार उलझी हुई हैं कि किसी एक समस्या को अन्य समस्याओं से विच्छिन्न कर सकना संभव नहीं होता। कला के सामाजिक-दार्शनिक, सौंदर्य-बोध गत, मनोवैज्ञानिक, नैतिक और अभिव्यक्तिगत संबंधों की छानबीन द्वारा ही कविता के इंगित स्वरूप का विवेचन संभव हो सकेगा। साहित्य समाज का दर्पण है' यह 'कला प्रकृति की अनुकृति है' का नवीन और आधुनिक संस्करण है। प्रकृति की परिपार्श्विकता आज समाज का प्राप्त हो गई है। समाज को व्यक्तिवादी दर्शन व्यक्ति के अहं-विकास की मात्र भूमिका स्वीकार करता है और साम्यवाद वह पूर्णता जिसमें वैयक्तिकता का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं। वैयक्तिकता का इस अवस्था में विलयन हो जाता है। व्यक्ति न तो पूर्णतया विच्छिन्न, स्वतंत्र और निरपेक्ष है और न सत्ताहीन अस्तित्व मात्र जिसकी स्थिति सामाजिक कारणों से होती है।

प्रगतिशील साहित्यकार वर्ग-संघर्ष का सैनिक है और इससे अधिक किसी का महत्त्व भी नहीं। सैनिकों में भी आपेक्षिक महत्त्व होता है और यदि उसे अपेक्षाकृत कुछ अधिक महत्त्व मिल जाता है तो केवल इसलिए कि उसके बुद्धिवादी अहं को ठेस न लग सके। कला की मार्क्सवादी व्याख्या अधिक होने लगी है और प्रगतिवादी विचारक मार्क्सवाद को ही सौ रोगों की एकमात्र सुलभ औषधि मानता है।

आजकल अपने को मार्क्सवादी कहनेवाला मार्क्स से भी अधिक मार्क्सवादी है। एंजिल्स को पहली फरवरी १८५८ में लिखे गए एक पत्र में मार्क्स ने द्वंद्वात्मक प्रणाली के कृत्रिम प्रयोग से अपना विरोध प्रदर्शित किया था और

तथ्यों की सावधानी के साथ की गई आलोचना और पूर्व सिद्धान्तों की प्रयोग द्वारा स्थापना से ही किसी निष्कर्ष पर पहुँचना आवश्यक समझा था। सामंतवादी प्रवृत्ति, बुर्जुआ मनोवृत्ति इत्यादि वाक्यांशों द्वारा प्रतिपक्षियों पर आक्षेप करना उस दारिद्र्य का सूचक है जिसके अन्तर में आवेश की पराकाष्ठा है। साम्यवाद एक विचारप्रणाली, एक सामाजिक दर्शन है और साथ ही साथ आन्दोलन। साम्यवाद अपनी विचार-प्रणाली को वैज्ञानिक मानता है और विज्ञान प्रयोग द्वारा सिद्धांत-निरूपण और सिद्धांतों के प्रयोगीकरण द्वारा सिद्धांतों का, संस्करण है। प्रत्येक प्रक्रिया का महत्त्व है और सिद्धांतों के प्रति रूढ़िगत मोह एवं पूर्वग्रह अवैज्ञानिक। मार्क्सवाद को मानवीय विचार-धारा को अन्तिम एवं चरम परिणति स्वीकार कर लेनेवाला मार्क्सवादी नहीं, वास्तविक प्रगतिवादी नहीं। मार्क्सवाद मार्क्सवादियों का ईश्वर बन गया है और इसमें सम्पूर्ण धार्मिक रूढ़ियाँ अन्तर्भूत हो गई हैं।

आर्थिक दृष्टिकोण और सामाजिक संबंधों से आँखें मूँदी नहीं जा सकतीं और किसी समाज-परिवर्त्तन की प्रक्रिया में वर्तमान आर्थिक संबंधों का परिवर्त्तन अपेक्षित है, किन्तु इतना ही अलम् नहीं। सामाजिक पुनर्निर्माण का मूल है अधिकाधिक वैयक्तिक स्वतंत्रता और आत्म-प्रसार की संभावना। साम्यवाद के फरिश्तों ने पूँजीवादी आर्थिक प्रणाली और बुर्जुआ सामाजिक व्यवस्था को परिवर्त्तित करने की इसलिए अपेक्षा समझी थी कि वे मानवीय विकास की अन्धतम कड़ियाँ हैं और इनके द्वारा मानवीय विकास अवरुद्ध होता है। वैज्ञानिक ज्ञान के सामाजिक प्रयोग द्वारा मानव की समस्त बाधाएँ दूर हो जायँगी; श्रम की उत्पादन-शक्ति का अनुभवातीत प्रसार होगा और इस प्रकार मानवीय शक्ति और स्फूर्त्ति कलात्मक एवं सांस्कृतिक चेतना के जागरण और बौद्धिकता के विकास में लग सकेगी। समाज का यह चित्र आदर्शवाद की चरम सीमा तक पहुँच जाता है और प्रगतिशील साहित्य इस धारा का अनुकरण कर अभूतपूर्व आदर्शवादी और सुधारवादी।

साम्यवाद का दावा कहाँ तक सफल हो सकेगा, इसकी कल्पना कर सकना संभव नहीं; किन्तु इतना स्पष्ट है कि साम्यवादी विचार-परम्परा की पूर्ण परिणति साम्यवादियों के स्वर्ग-लोक—रूस—में भी नहीं। वैयक्तिक विकास की धारणा को वह अर्थहीन अमूर्त्तीकरण मानता है। साम्यवाद का दर्शन इतिहास को, समाज के इतिहास को निश्चित एवं दृढ़ निश्चयात्मक दृष्टि से देखता है और उसके सारे निष्कर्ष इसी योजना की परिणति हैं। इस दर्शन की

प्रणाली पूर्वनिश्चितता की धारणा को बद्धमूल करती है और इस प्रकार वैयक्तिक 'अहं' के स्थान में सामाजिक 'अहं' की प्रतिष्ठा होती है। यह विश्वास-परम्परा है और यह प्रकट है कि धार्मिक वृत्ति तर्क की प्रामाणिकता स्वीकार नहीं करती।

साम्यवाद क्या मानवता विरोधी है, जैसा आज का राजनीतिक दल कहता है? क्या यह आवश्यक है? ये प्रश्न हमारे लिए महत्त्वपूर्ण नहीं, बल्कि यह है कि साम्यवाद की विचार-धारा क्या मानवीय चैतन्य की अन्तिम परिणति है और क्या इस एकरूपता के पश्चात् मानवीय स्वातंत्र्य की सहज सम्भावना बची रहेगी? इसके साथ ही यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न भी है कि मानवीय चेतना क्या इसके वर्तमान रूप को ही ग्रहण करेगी। हमारा विरोध साम्यवादी सिद्धांतों के पद्यात्मक प्रयोग से नहीं है, प्रत्येक युग में मतवाद के प्रचार के लिए कविता का उपयोग हुआ है। कला की स्वतंत्रता का प्रश्न वैयक्तिक अहं और महत्त्वाकांक्षा के बंधनहीन प्रसार का फल है। यदि किसी साम्यवादी ने अपने विचार के प्रकाशन के लिए कविता को माध्यम बनाया है, तो सूर, तुलसी और कबीर ने भी वैसा ही किया है। कालिदास, दांते और शेक्सपीयर में भी सिद्धांतों और विचारों का अभाव नहीं। कविता के इस स्वरूप के प्रति रोष छायावाद के प्रारंभिक विरोध-जैसा है। इसे स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि आलोचना के मानदण्ड अधिक रूढ़ और रूढ़ि-प्रिय होते हैं और रचनात्मक कला की अपेक्षा आलोचना की गति मंथर होती है।

मार्क्सवादी व्यवस्था के स्थान में मानव-संबंधों एवं व्यक्ति तथा समाज के संबंध-निर्णय करने के लिए नवीन विकास के स्पष्ट लक्षण हैं जिसके कारण व्यक्ति समाज में अन्तर्लीन सत्ताहीन परमाणु न रहेगा और न समाज प्राचीन व्यवस्था के अनुसार व्यक्ति के 'अहं' का परिपार्श्व-मात्र। व्यक्ति और व्यक्ति, व्यक्ति और समाज के संघर्ष की परिणति व्यक्तित्व के विलयन में न होकर व्यापक सहयोग के विकास-प्रसार के रूप में होगी। समाज के निर्माण के पूर्व व्यक्ति था, समाज का निर्माण व्यक्ति ने किया है और अस्तित्व-रक्षा की चेतना वैयक्तिक है, इन सत्यों पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि मानव-विकास की दिशा व्यापक मानववाद के रूप में होने जा रही है, गाँधीवादी मानव-कल्याणवाद और सुधारवाद के रूप में भी नहीं। गाँधीवाद कोई दार्शनिक प्रणाली नहीं, समाज-व्यवस्था का नियमीकरण है; किन्तु वैयक्तिक चेतना के विकास की जो दिशा दीख पड़ती है उसमें भावना-चक्र के नवीन विकास की सूचना है।

मनोविज्ञान के क्षेत्र में मनस्तत्त्वविश्लेषण शास्त्र ने एक नई सूचना दी। मानवीय मानस की क्रिया-प्रक्रिया, चेतना-क्षेत्र आदि पर इस शास्त्र का गंभीरतम प्रभाव पड़ा। कलाकार ने प्रारंभ से ही उन तत्त्वों के आधार पर अपनी कलात्मक प्रतिभा प्रदर्शित की थी, जिनके आधार पर इस मनोविज्ञान ने अपना आकाश-स्तम्भ स्थापित किया। अतः साहित्य पर मनस्तत्त्वविश्लेषण का गहरा प्रभाव पड़ना आश्चर्यजनक नहीं। फ्रायड ने अन्तर्मन और अंतश्चेतना के आविष्कार का दावा नहीं किया; बल्कि उसके अनुसार कवियों और लेखकों ने इसका आविष्कार किया था। वह तो केवल इसे शास्त्रीय महत्त्व दे सका। अतः, उसने केवल अन्तश्चेतना के अध्ययन की विधि आविष्कृत की। इस विधि ने आलोचना और आलोचन-शक्ति को महत्त्वपूर्ण अन्तर्दृष्टि दी और कला की अन्तर्भूत अस्पष्टता और वैशिष्ट्य को समझने की अद्भुत क्षमता एवं काव्य-साहित्य-कला को समझने-परखने की नई चेतना।

नवीन मनोविज्ञान के उद्भव के साथ कलाकार के मानसिक स्वास्थ्य की चर्चा अधिक होने लगी है। कवि के साथ विक्षिप्तता का गठ-बंधन कुछ नवीन नहीं है। कवियों को विशेष प्रकार का विक्षिप्त मान लेने में किसी को इतराज नहीं होता और कभी-कभी तो कवि स्वयं इस उपाधि के धारण करने में आत्म-तुष्टि-लाभ करता हुआ दीख पड़ता है। कुछ कवियों और कलाकारों ने इस अभियोग को अवास्तविक सिद्ध करना चाहा और कल्पनात्मक-प्रतीक-विधान को पूर्णतया स्वस्थ मानसिक प्रक्रिया माना। काव्यात्मक अथवा रचनात्मक कल्पना के वैशिष्ट्य को मनुष्य आज सहज ही स्वीकार कर लेता है और इस प्रकार की प्रतिभा का जन्मजात, सहज अथवा अन्तर्मन की विशिष्ट प्रक्रिया। कला को मानसिक विकृति की कोटि में गणना करनेवालों का भी अभाव नहीं रहा है। कलाकारों ने जीवन की सामान्य धारणाओं और समय-तालिका को शिरसा स्वीकार नहीं किया है। कवियों ने अपने जिस विशेषाधिकार की चर्चा की है, और जिसे पाठक-वर्ग ने सदा दे देने की उदारता नहीं दिखाई, उसमें इसी विकृति के लक्षणों की संभावना देखी गई। कलाकार की चेतना को सहज संक्षोभ्य सदा से स्वीकार किया गया है। जीवन की कुंठाओं, अतृप्त आकांक्षाओं और उनकी संपूर्त्ति के रूपान्तरों की चर्चा इस संबंध में होती है और कलाकार समाज की वैधिकता के मूल में अस्वस्थ मानसिक क्रिया देखता है। मानसिक विक्षेप का सीधा अर्थ है वस्तु को उसकी वास्तविक भूमिका में देख सकने की शक्ति की अक्षमता एवं

वास्तविकता के साथ स्वस्थ-संबंधों का अभाव। साधारणतया यह धारणा हो जाती है कि विक्षिप्त कलाकार की रचनाएँ विक्षिप्त हैं और उनका सामाजिक तथा नैतिक मूल्य नहीं हो सकता। इसके विपरीत वैसे लोगो का भी अभाव नहीं जो कलाकार की विक्षिप्तता को उसकी प्रेरणा और क्षमता स्वीकार करते हैं और वास्तविकता की अतृप्तिकर भावना को कला के मंगलमय रूप का आधार।

अन्तस्चेतना कला की प्राण-धारा है किन्तु मानसिक विक्षेप कलाकार की क्षमता और उसकी प्रतिभा का आदि-स्रोत नहीं। वैधानिकता स्वयं वैधानिक अथवा 'नार्मल' नहीं, प्रत्येक जीवन की परिधि समान है, यद्यपि समान वृत्ति-चक्रों में घूर्णायमान जीवन विभिन्न और विशिष्ट है, किंतु पूर्णतया विच्छिन्न नहीं। कलाकार प्रदर्शन-प्रिय होता है और उसमें अभिव्यक्ति की क्षमता है। अतः वह अपनी वेदना, अपनी अनुभूति का अधिकाधिक प्रदर्शन कर पाता है।

अन्तस्चेतना का प्रभाव प्रत्येक व्यक्ति की अनुभूति, भावना और विचार पर पड़ता है। प्रत्येक व्यक्ति की कुंठाओं और अतृप्ति के कारणों तथा रूपों में अन्तर है, किन्तु प्रत्येक जीवन इससे प्रभावित है, इसे किसी भी प्रकार अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। इस दृष्टि से विचार करने पर प्रत्येक व्यक्ति विक्षिप्त सिद्ध हो जायगा और विक्षिप्तता मानवीय जीवन का मूलाधार और प्रत्येक बौद्धिक प्रक्रिया का साधन-माध्यम। क्या यह कोई स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत है कि कलाकार ही नहीं, तार्किक, अर्थशास्त्री, वैज्ञानिक, विधान-विशारद, धर्मशास्त्री, यहाँ तक कि स्वयं मनोवैज्ञानिक भी इसी प्रकार की विक्षेप-प्रक्रिया से ग्रस्त हैं। जीवन-संघर्ष के उसी प्रतिरूप में नियोजित सभी व्यक्ति कलाकार नहीं हो पाते, यह क्या संकेत-सूचक नहीं?

कविता में अभिव्यक्ति का प्रश्न सम्पूर्ण व्यक्तित्व और उसकी जीवंत प्राणधारा की अभिव्यक्ति का प्रश्न है। व्यक्तित्व को खण्ड-खण्ड करके एक सीमा तक देखा जा सकता है, उसे खण्डित किया नहीं जा सकता। उस व्यक्तित्व की परीक्षा-समीक्षा के लिए अन्तर्भूत प्रवृत्ति और सामाजिक प्रतिवेश के सम्यक् ज्ञान की अपेक्षा है। मानवीय विकास की दार्शनिक भूमिका का संकेत अन्यत्र किया गया है। दर्शन का उद्भव शून्य में नहीं होता, जैसा अधिकांश मोहग्रस्त दार्शनिक विश्वास करते हैं; किन्तु उसकी सामाजिक-सांस्कृतिक अवस्थिति होती है। मानववादी दृष्टिकोण के कारण जहाँ मनुष्य को धार्मिक अथवा साम्यवादी रूढ़ धारणाओं से मुक्ति

मिलेगी, वहाँ मनुष्य की बौद्धिक चेतना के लिए नवीन आस्था का जन्म होगा। छायावाद-रहस्यवाद मनुष्य की अतिभावुकता में विश्वास करता था, और प्रगतिवाद उसके आवेश और आक्रोश में। प्रगतिवाद का आंदोलन-रूप उस तटस्थता की स्वीकृति को मान्यता नहीं देता जिसके कारण कलाकार कला-विधान को अधिकाधिक मूर्त्तमत्ता दे पाता है। साम्यवादियों की कल्पना के साकार होने पर मानसिक संघर्ष की स्थिति नहीं रहेगी, इस अवस्था में कविता मानवीय प्रयासों के स्तव-गान से अधिक हो क्या सकेगी? और, इस प्रकार नवचारणयुग का प्रारंभ होगा। इसे स्वीकार करने में मुझे संकोच नहीं कि प्रत्येक युग में चारण-काल होता आया है।

पूर्वकाल में भावना और विचार को विभिन्न और परस्पर स्वतंत्र मानसिक प्रक्रियाओं के मानने का मोह रहा है, जिसका प्रभाव आज भी समाप्त नहीं हुआ है। विचार-प्रक्रिया को भावना-वृत्त से नितांत विच्छिन्न मानने के कारण दार्शनिक और कवि में अन्तर माना गया है। कवि और मनीषी द्वारा इस अन्तर की स्पष्टता को व्यक्त करने का प्रयास किया जाता रहा है। कवि और मनीषी में अन्तर है, इसे अस्वीकार करना सहल नहीं किन्तु अन्तर इतना स्पष्ट नहीं कि दोनों को निरपेक्षरूप में देखा जा सके। व्यक्ति न तो विशुद्ध विचार है और न विशुद्ध भावना। मानवीय भावना की अभिव्यक्ति के साथ मूल्यांकन, निर्णय और सिद्धांतीकरण की प्रक्रिया चलती रहती है। भावना जहाँ विचार को गति देती है, वहाँ विचार भावना को स्पष्टता एवं सीमा-निश्चितता। विचारों को कार्यान्वित करने के लिए भावना के आवेश की अपेक्षा है। अन्तर्मन की प्रेरणा तथा प्रतिभा के संयोगीकरण द्वारा भावना और विचारों के विच्छिन्न क्षेत्रों का निर्मीलन सम्भव हो सका है। इस प्रकार कविता जहाँ एक ओर छायावादी रोमांस-प्रधान अतिभावुकता के अंकस्थ हो गई थी, जिसके सपनेरान में अप्रतिम मधुरता किसी दिन दीख पड़ी थी, वहाँ दूसरी ओर विचार के क्षेत्र में प्रवेश कर रूढ़ विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम बन गई। अतर्क्य बौद्धिकता को विचार-शून्यता से आक्रान्त सिद्धांतीकरण काव्य नहीं हो सकता। सिद्धांत अपने-आपमें पूर्ण और महत्त्वपूर्ण होने पर भी काव्यगत मूल्य नहीं रखते और रूढ़ि-प्रियता एवं पूर्वग्रह तो बौद्धिकता एवं विचारात्मकता की हत्या है।

सिद्धांत और विचारों की इस विभिन्नता के समझने का प्रयास कम होता है और एक कठिनाई भी है कि विचारात्मकता किस सीमा में सिद्धांत-प्रकाशन हो जाएगी? इनके मध्य स्पष्ट विभाजक रेखा साधारणतया नहीं खींची

जा सकती। भावना की अतिभावुकता और रूढ़ सिद्धांतीकरण के स्थान में भावना और विचार के समन्वय का मंगलमय सूत्र मिलता है : निराला-जैसी बौद्धिकता बननेवाली भावना भी नहीं और न पंत की भाँति दर्शन को अपने काव्य का मेरुदण्ड बनाने की चिन्ता। पन्त की काव्यमत्ता कभी गाँधीवाद, कभी मार्क्सवाद और कभी योगी अरविंद के अध्यात्मवाद के साथ सम्बद्ध होती रही। महादेवी की झिलमिल छाया में भी लुभाने की शक्ति नहीं रही, कारण पाठक की सजग चेतना अब उससे संतुष्ट नहीं हो सकती। छायावाद का अंत केवल इसलिए नहीं हुआ कि उसकी सम्भावनाएँ समाप्त हो गईं; बल्कि विभिन्न किन्तु समान लगनेवाली जीवन-स्थिति में उद्‌भूत छायावाद युग की मानसिक प्रकिया के अनुकूल अधिक समय तक नहीं रह सका। 'प्रगतिवाद' इसलिए नहीं समाप्त हो जाएगा कि उसके पास दृढ़ और निश्चित सिद्धांत और दार्शनिक पद्धति नहीं; बल्कि इसलिए कि आवेश की क्षणिकता के साथ रागात्मक संश्लेष सम्भव नहीं और विचारों की रूढ़िमत्ता बौद्धिकता को बहलाए नहीं रख सकती। इस प्रकार जीवन-धारा की प्राण-शक्ति के नव विकास के दर्शन नवीन कविता-प्रवृत्ति के रूप में होंगे।

कविता के विकास की सूचना एक और दिशा से मिलती है। वस्तुतः मूल्यांकन की समस्या कविता के स्वरूप का निर्धारण करती है। विभिन्न सांस्कृतिक स्तरों के कारण विभिन्न मापदण्ड बनने और स्वरूप ग्रहण करने लगते हैं। कला-चेतना पर वर्ग-विशेष की सांस्कृतिक स्थिति का गम्भीर प्रभाव है। जीवन के कर्म-कोलाहल और हलचल में संलग्न वर्ग मनोरंजन के द्वारा थकान मिटाने का सहयोगी ही इसे मानेगा। सम्पन्नवर्ग की सांस्कृतिक चेतना वैधानिकता का रूढ़ि-प्रिय निर्वाह चाहती है। आर्थिक योजना के नवीन विकास से जागरित चेतना-धारा न तो मनोरंजन की सहयोगिनी और न प्रिया के सौंदर्य-प्रसाधन एवं रूढ़ि-प्रियता के निर्वाह को कला का उद्देश्य मानेगी। 'कलाकला के लिए' कथन जहाँ कलाकार के व्यक्तित्व को ही कला-चेतना का आधार मानता है वहाँ 'कला जनता के लिए' उसके व्यक्तित्व का विलयन कर सामाजिक अहं की सृष्टि करता है। कविता के विकास की इंगित दिशा में दोनों कथन अनुपयुक्त हो जायँगे और व्यक्तित्वों के समीकरण और सामञ्जस्यपूर्ण अन्विति के कारण दोनों का विच्छेद समाप्त हो सकेगा।

कविता का संबंध सौंदर्य-वृत्ति एवं-बोध तथा अभिव्यक्ति से है। ऐहिक जीवन का सुखवाद मांसल सौंदर्य-बोध का परिचायक है, जहाँ सौंदर्य और

सुन्दर में अन्तर नहीं रहता, उपभोग जिसका आधार और तुष्टि जिसकी सीमा है। स्थूल मांसलता के विरोध में जीवन के विषम संघर्ष और तज्जनित विफलता में केवल पलायनवादिता नहीं, बल्कि शोध की सामग्री भी है। सौंदर्य नितांत अशरीरी और भावात्मक हो गया, सुन्दर से सौंदर्य का विच्छेद हो गया। भावना से अधिक काल्पनिकता चमत्कारपूर्ण सिद्ध की गई और काल्पनिक चित्रण को कविता मानकर हिन्दी में अनधिकारपूर्ण रचनाएँ भी काल-प्रवाह के आवेश में कम नहीं हुईं। छायावाद की अतिकाल्पनिकता का विरोध जो 'वस्तुवाद' के नाम पर हुआ उसमें भी काल्पनिकता का अभाव नहीं। इस स्थल पर आदर्श और यथार्थ के संबंध पर विचार कर लेना अपेक्षित है। सिद्धांत और प्रयोग का विच्छिन्न स्वरूप इस विवाद-कोलाहल में अधिकाधिक स्पष्ट हुआ है। दर्शन के इन पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग में अधिक अव्यवस्था है। पारिभाषिक शब्दों की अर्थ-व्याप्ति और सीमा की अनिश्चितता के कारण ही मतवादों की स्थापना और तर्क-पद्धतियों का जन्म होता है। कला-समीक्षक की यह क्षमता भी है और सीमा भी। शब्दों के इस बंधन से मुक्त मानव की विचार-धारा स्वतंत्र स्वरूप ग्रहण कर सकेगी, जिसकी कोई सम्भावना निकट-भविष्य में नहीं दीख पड़ती। आदर्श और यथार्थ का वास्तविक विभेद इनकी अतियों में ही दीख पड़ेगा। प्रेमचंद ने आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की परिकल्पना की थी; किन्तु समस्या इतनी सीधी नहीं। आदर्शों के यथार्थीकरण की चेष्टा राजनीतिक क्षेत्र में हो रही है। आदर्श और यथार्थ गति-हीन और जड़ नहीं, इनका जागरूक प्रवाह अविच्छिन्न रूप में प्रवाहित हो रहा है। आदर्श अब यथार्थ से नितांत विच्छिन्न और यथार्थ आदर्श से सर्वथा शून्य नहीं रह सकता। विकास के क्रम में इनका विभेद मिट जाएगा और इस प्रकार कविता का क्षेत्र मानवीय वृत्ति-चक्र की सम्पूर्णता के अधिकाधिक समीप होगा। इस स्थिति में आकर सौंदर्य-बोध संकीर्ण सीमाओं में बँधा नहीं रहेगा तथा अभिनामुकतःपूर्ण वैयक्तिक वासना और कुंठा में कुंठित नहीं रहकर उन्मुक्त बौद्धिक शक्तिमत्ता धारण करेगा। इस अवस्था में आकर कवि को अपने माध्यम की शक्तिमत्ता का अन्वेषण करना होगा और इस प्रकार नवीन 'टेकनीक' का जन्म होगा।

'टेकनीक' की समस्या को लेकर प्रयोगवाद हमारे समक्ष आया है। छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद में सिद्धांत और टेकनीक के संयोग हैं; कला न तो विशुद्ध भावना अथवा विचार है और न टेकनीक भावना अथवा विचारहीन अभिव्यक्ति। अभिव्यक्ति अधर में नहीं टिकती। सभी वादों में

जीवन के प्रति सुनिश्चित दृष्टि-कोण है और उनमें अभिव्यक्ति की एक प्रणाली। छायावाद की प्रणाली कल्पनात्मक अतिभावुकता, रहस्यवाद की रूपात्मक संरूपकता और प्रगतिवाद की आक्रोशपूर्ण वस्तुवादिता रही है। 'प्रयोगवाद' जीवन के किसी सैद्धांतिक स्वरूप को मान्यता न देकर विधान की सार्थकता का अन्वेषी है। ऐसा नहीं कि प्रयोगवादियों में सैद्धान्तिक मतवादों के प्रति आग्रह रखनेवालों का अभाव है कि बल्कि ऐसा है कि इसमें बाध्यता नहीं। यह तो स्पष्ट है; प्रयोगवाद कोई वाद नहीं हो सकता, विवाद का कारण और आधार बनने की सामर्थ्य इसमें अवश्य है।

अभिव्यक्ति की परम्परा होती है, जिसमें तत्कालीन चेतना का प्रतिफलन होता है। अतः तत्कालीन चेतना और अभिव्यक्ति का विच्छेद कला की असामर्थ्य है। अभिव्यक्ति का साधन इतना अधिक गहरा संस्कार बन जाय कि उससे भिन्न माध्यम की माध्यमता स्वीकृत करने में कठिनाई हो जाय तो कविता पंगु और प्रभावहीन हो जाती है। 'अज्ञेय' के साथ पूर्णतया सहमति सम्भव है कि सत्य की उपलब्धि और उपलब्ध सत्य की अभिव्यक्ति दोनों में प्रयोग फलप्रद होगा। प्रयोग के द्वारा ही समर्थ काव्यरूपों का निर्माण हुआ है। हमारी मूल रागात्मक अनुभूति में परिवर्त्तन हुआ है इसे स्वीकार करना अधिक व्यक्तियों के लिए कठिन है; किन्तु इतना तो मानना ही पड़ेगा कि अनुभूतियों की अभिव्यक्ति जिन माध्यमों से होती रही है, वे अब अपनी अक्षमता में ही जीवित हैं। जीवन के नवीन अभियान के कारण अनुभूति शुद्ध अनुभूतिमय एवं भावनामय भावाकुलता नहीं रह गई है। भविष्य जीवन का आधार बौद्धिक और तात्त्विक होगा। भावना और विचार की सीमाएँ ध्वस्त हो जायँगी, वैसी अवस्था में छायात्मक आर्द्रता से भींगे प्रतीकों की आवश्यकता सीमित हो जायगी। मार्क्सवाद की दार्शनिकता जिस प्रकार मान्य और स्वीकृत मानदण्डों पर प्रबल आक्षेप करती है, सामाजिक मान्यताओं को ध्वस्त करना चाहती है, उसी प्रकार छायात्मक प्रतीकों के स्थान में मानसिक हलचल को उभाड़नेवाले प्रतीकों का प्रयोग करती है। प्रगतिवादी भावना को ग्रहण करा सकने की शक्ति से अधिक झकझोर देनेवाली क्षमता का कायल है। नए प्रकार की अनुभूति अथवा कम-से-कम रागात्मक संबंधों के अभिनव स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिए नवीन सौंदर्य-बोध और नूतन शब्द-रूप से आन्तरिक परिचय अपेक्षित होगा। साधारणीकरण का प्रश्न कवि और पाठक की विभिन्न सांस्कृतिक चेतना-स्तर की समस्या है। जीवन के नवीन अभियान में चेतना-वृत्त का विकास नियमित सीमा में नहीं होकर

व्यापक रूप में होगा; अन्तर्विरोध स्वयं मिट जायगा और कविता का स्वस्थ-सौष्ठव प्रकाशित होगा। ऐसी अवस्था में प्रबंध-काव्य को गीतिमयता ही प्राप्त नहीं करनी होगी बल्कि कविता को प्रबंधात्मकता से मुक्ति। चेतना-वृत्त संश्लेषपूर्ण प्रबंध-चित्र से संबद्ध नहीं होगा और न ऐसा अपेक्षित ही।

इस चर्चा में कवि को ध्यान में रखकर ही हम कविता के संबंध में अभी तक चर्चा करते रहे हैं; सम्भवतया, इस निबंध का पाठक, यदि कवि नहीं है—जिसकी संख्या ही अधिक होगी, अपनी (= पाठक की) अवहेलना पर खीझ उठेगा। समाज, परिवेष्टन और सामाजिक दर्शन की चर्चा केवल कवि के व्यक्तित्व के विचार के लिए नहीं; बल्कि सामाजिक के व्यक्तित्व-विश्लेषण के लिए भी है। अनुभूति के बौद्धिक अभियान की जो चर्चा हुई है उसमें एक तथ्य की ओर ध्यान नहीं दिया जा सका था। प्रश्न अपने-आपमें महत्त्वपूर्ण है, और वह प्रश्न है शिक्षा-संस्कार का। वैयक्तिक प्रतिभा को मान्यता देते हुए सामाजिक स्तर का संगठन शिक्षा पर निर्भर करता है। तत्कालीन शासक वर्ग ऐसी [illegible] प्रस्तुत करना चाहता है कि बौद्धिक विकास पंगु होता रहे और स्वतंत्र इच्छा-शक्ति का पर्याप्त विकास न हो पाए। भारतीय जीवन को इस समय एक अन्तर्विरोध का सामना करना पड़ रहा है। राष्ट्रीय जीवन का चैतन्य पश्चिम के बुद्धिवादी विकास की वैज्ञानिक पद्धति को अपनाकर अधिकाधिक उत्पादन का इच्छुक है और दूसरी ओर शिक्षा-संस्थान के नाम पर शिक्षा की एक ऐसी प्रणाली प्रचारित करने की चेष्टा हो रही है जिसका इस औद्योगिक विकास-क्रम के साथ किसी प्रकार सामञ्जस्य नहीं। अन्तर्विरोध की यह स्थिति अधिक समय तक नहीं चलेगी और बौद्धिक अभियान की गति को थोड़े समय के लिए अवरुद्ध भले कर लिया जा सके, इसे अनिश्चित काल के लिए रोका नहीं जा सकेगा।

इस विकास के साथ कला-संबंधों में जो परिवर्त्तन होंगे उनमें सांस्कृतिक चेतना का स्वस्थ स्वरूप प्राप्त होगा जिसमें आत्म-विस्मृति और आत्म-प्रत्यय, सह-संवेदन और आत्म-प्रसार की भावना और विचार, विषय और विधान का सहज सामञ्जस्य स्थापित होगा। जीवन के जागरण, सौंदर्य-बोध, सत्य के प्रति असंशयालु और रूढ़ि-मुक्त धारणा एवं उपलब्धि की सहज मार्मिक व्याकुलता, नूतन रागात्मक संबंधों की अभिव्यक्ति के उपयुक्त नवीन प्रतीकात्मक विधान की गतिशीलता, अतिभावुकतामय एवं प्रचण्ड सैद्धान्तिक विचारात्मकता के स्थान में बौद्धिक अनुभूति की गत्यात्मक प्रगतिमूलकता नवीन काव्य-संस्कार की स्वस्थ इंगित दिशा है।